रामायण रहस्य

[रामायण के २५ पात्रों की आलोचनात्मक जीवनी]

लेखक

पण्डित रामजीलाल शर्म्मा

हिन्दी प्रेस, प्रयाग

रामायण-रहस्य

रामायण के प्रसिद्ध प्रसिद्ध २५ पात्रों की जीवनी से

सीखने योग्य बातों का आलोचनात्मक वर्णन

लेखक

रामजीलाल शर्म्मा

१९८१ वि०

चतुर्थ संस्करण] [मूल्य ६ आने

मुद्रक और प्रकाशक
रामजीलाल शर्म्मा, हिन्दी प्रेस, प्रयाग

निवेदन

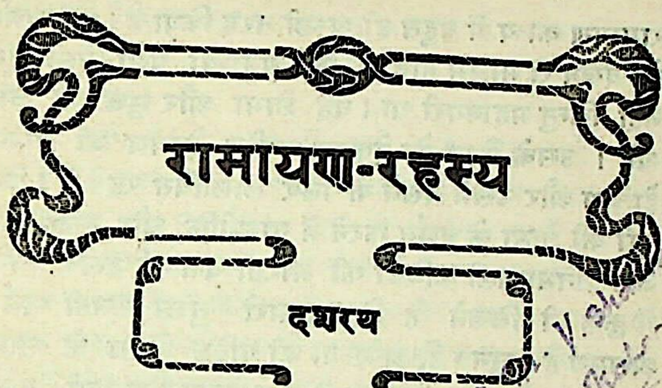
भारत में रामायण का जितना प्रचार है उतना और किसी ग्रन्थ का नहीं। किसी हिन्दू का घर ऐसा नहीं जहाँ रामायण की पुस्तक न हो। कोई हिन्दू ऐसा नहीं जिसने रामायण न पढ़ी हो, न सुनी हो या न देखी हो। श्रीराम-जन्म से लेकर अन्त तक पूरी कथा प्रायः सब जानते हैं। पर रामायण के पढ़ने वालों में ऐसे बहुत कम होंगे जो उसके मुख्य मुख्य पात्रों की जीवनी पर सूक्ष्म विचार करते हों। इस बात के जानने की सबके लिए बड़ी आवश्यकता है कि दशरथ, कौशल्या, श्रीराम, सीताजी, सुग्रीव, हनुमान, रावण, आदि पात्रों ने क्या क्या काम अच्छे किये और क्या क्या बुरे। जबतक आलोचना-पूर्वक किसी का चरित नहीं पढ़ा जाता तबतक उस चरित से यथेष्ट लाभ नहीं होता। किसी के चरित से शिक्षा ग्रहण करने के लिए यह बहुत ज़रूरी है कि उसके चरित की भली बुरी सभी बातें खूब बारीकी से पढ़ी जायँ। जीवन-चरित की प्रत्येक घटना पर गम्भीर दृष्टि से विचार किये बिना जीवन के रहस्य समझ में नहीं आ सकते।

"रामायण-रहस्य" में दशरथ से लेकर कुश-लव तक रामायण के मुख्य मुख्य २५ पात्रों की जीवनी लिखी गई है। जीवन-घटनाओं का रहस्य आलोचनात्मक दृष्टि से दिखाया गया है। ऐसा करने से यह बात सबको समझ में आसानी से आजायगी कि किसकी जीवनी से कैसी शिक्षा मिलती है।

यह वही पुस्तक है जिसके लिखने की मैंने तृतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर, कलकत्ते में, प्रतिज्ञा की थी। सम्मेलन की प्रेरणा से ही मैंने यह क्षुद्र पुस्तक लिख कर प्रकाशित की है। आशा है, सम्मेलन मेरी इस तुच्छ सेवा को स्वीकार करेगा।

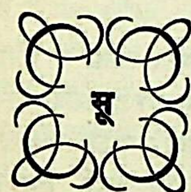
निवेदक—रामजीलाल शर्मा

विषय-सूची



रामायण-रहस्य

दशरथ



सूर्य-वंशी राजाओं में बड़े बड़े प्रतिष्ठित, धर्मात्मा और शूरवीर राजा हो गये हैं। जिस प्रकार सूर्यवंशी नरेशों में इक्ष्वाकु और रघु महाप्रतापी नरेश हो गये हैं उसी प्रकार महाराजा दशरथ भी सूर्यकुल में एक रत्न के समान हो गये हैं।

यदि सूर्यवंश को सुन्दर आकाश की उपमा दी जाय तो राजा दशरथ को चन्द्र की उपमा दी जायगी। यदि सूर्यवंश को सुरभित पुष्पों की वाटिका के साथ उपमा दी जाय तो राजा दशरथ की गुलाब के फूल के साथ तुलना करनी उचित होगी। यदि सूर्यवंश को रत्नाकर बतलाया जाय तो राजा दशरथ की उपमा उज्ज्वल मोती के साथ देनी होगी।

राजा दशरथ बड़े विद्वान्, बड़े ज्ञानवान् और बड़े बलवान थे। उनकी राजधानी अयोध्या नगरी थी। सरयू नदी के दक्षिण तट पर बसी हुई अयोध्यापुरी की शोभा का विस्तारपूर्वक वर्णन आदिकवि वाल्मीकि ने अपने बनाये

रामायण काव्य में बहुत ही अच्छी तरह किया है। उस वर्णन के देखने से मालूम होता है कि अयोध्या ऐसी वैसी पुरी नहीं, किन्तु महानगरी थी। वह शोभा और सुख की खान थी। उसके वैभव को देखकर स्वर्गीय देवगण भी चकित होते थे और उसमें बसने के लिए लालायित रहते थे। जिस पुरी की शोभा के वर्णन करने में वाल्मीकि और तुलसीदास जैसे प्रतिभाशाली कवियों की भारती थक गई उसके विषय में कुछ भी लिखने के लिए हमारी तुच्छ लेखनी सर्वथा असमर्थ है। सुनते हैं, अयोध्या की पवित्र शोभा के सामने यक्षराज कुबेर की अलकापुरी और देवराज इन्द्र की अमरावती नगरी की शोभा फीकी पड़ गई थी।

ऐसी सुहावनी नगरी को राजधानी बनाकर राजा दशरथ ने बड़ी योग्यता से प्रजा का पालन किया। राजा दशरथ ऐसे प्रतापी, ऐसे धर्मात्मा और ऐसे न्यायी थे कि उनकी कीर्त्ति-पताका अवध में ही नहीं, सारे भारतवर्ष में ही नहीं, किन्तु और देशों में भी फहराने लगी। भारतवर्ष में और उसके आस पास जितने छोटे बड़े राजा थे वे सभी राजा दशरथ का गौरव मानते थे, उनसे मेल रखते थे और उनको कर देते थे।

इतने प्रभुत्व को पाकर भी राजा दशरथ को कभी राजमद नहीं हुआ।

अन्य विद्याओं में प्रचण्ड विद्वान होने के अतिरिक्त धनुर्वेद और अस्त्रविद्या में भी राजा दशरथ का बड़ा नाम था। बाण चलाने की विद्या में वे इतने निपुण थे कि शब्दवेध तक करते थे। जंगली हाथियों के शिकार खेलने का उनको बड़ा व्यसन था। जहाँ कहीं वे जङ्गली हाथी का पता पाते वहीं जाकर बड़ी दृढ़ता के साथ उसको मार डालते थे। दिन

में तो सभी शिकार खेलते हैं, परन्तु राजा दशरथ रात में भी हाथियों का शिकार किया करते थे। इस विषय में एक उपाख्यान सुनिए।

एक ऋषि थे। वे जङ्गल में कुटी बना कर रहते थे। वे अन्धे थे। उनका एक लड़का था। वही उनकी सेवा-टहल किया करता था। एक दिन, रात के समय, अन्धे ऋषि ने अपने लड़के को घड़ा देकर जल लाने के लिए नदी पर भेजा। वह जाकर नदी में से जल भरने लगा। जल भरते समय जो घड़े का शब्द हुआ वह कहीं राजा दशरथ के कानों में जा पड़ा। वे वहीं कहीं आखेट करते फिरते थे। उन्होंने उस शब्द को सुनते ही यह समझा कि यह शब्द हाथी का है। बस फिर क्या था उन्होंने आव किया न ताव, दूर से ही अन्धेरे में, बिना देखे ही, उसी शब्द को लक्ष्य बनाकर एक तीर तान कर मारा। राजा शब्दबेधी बाण चलाने में तो सिद्धहस्त थे ही, वह तीर उस अन्धे ऋषि के पुत्र के शरीर में जा लगा। उसके लगते ही वह गिर कर मर गया। राजा ने वहाँ आकर देखा तो हाथी की जगह ऋषिपुत्र को मरा पाया। यह देख ब्रह्महत्या के डर से राजा काँपता हुआ अन्धे ऋषि के पास गया। राजा की पैछड़ सुनकर ऋषि ने कहा—"पुत्र, जल भर लाया?" राजा ने काँपते हुए उत्तर दिया—"महाराज, मैं आपका पुत्र नहीं, मैं दशरथ हूँ। आपका पुत्र मेरी भूल से मारा गया। मैं अपराधी हूँ। मैं आपके सामने खड़ा हूँ। अपराध मैंने भारी किया है। इसलिए मैं उसकी क्षमा तो नहीं माँग सकता, किन्तु हाथ जोड़ कर मैं आपकी सेवा में प्रार्थना करता हूँ कि इस अपराध के लिए आप जो उचित समझें मुझे दण्ड दीजिए।"

वह पुत्र ही ऋषि का एक मात्र सहारा था। उसका मरना सुनकर ऋषि को अपार दुःख हुआ। पुत्र के शोक में जब उस अन्धे ऋषि के प्राण निकलने लगे तब मरते समय उसने राजा दशरथ को शाप दिया कि "राजन्, जिस तरह मैं इस समय पुत्र के वियोग में मर रहा हूँ इसी तरह तू भी अपने प्यारे पुत्र के वियोग में मरेगा।"

राजा दशरथ गो-ब्राह्मणों के बड़े भक्त थे। उन्होंने अपने राज्य में ऐसा अच्छा प्रबन्ध कर रक्खा था कि जङ्गल में रहने वाले तपस्वी ब्राह्मणों को किसी प्रकार का कष्ट न होता था।

एक वार देवों और असुरों में युद्ध छिड़ गया। जब देव-गण हारने लगे तब राजा दशरथ ने उनकी सहायता करके असुरों को परास्त किया।

राजा दशरथ की एक जीवन-घटना को देख कर यह सिद्ध होता है कि पहले लोग स्त्रियों का बड़ा आदर-सम्मान किया करते थे। आज कल की तरह पहले समय में लोग स्त्रियों को गृहरूपी कारागार में ही बन्द नहीं रखते थे, किन्तु समय समय पर उनको बाहर भी ले जाया करते थे। यही नहीं, किन्तु बड़े बड़े युद्धों तक में लोग स्त्रियों को अपने साथ ले जाया करते थे।

जब राजा दशरथ देवासुर-युद्ध में सैनिक-वेश से सज्जित होकर गये थे तब आप जानते हैं उनके साथ कौन गया था? उस समय प्यारी रानी कैकेयी उनके साथ गई थी। उस युद्ध में रानी कैकेयी ने अपनी वीरता और पतिभक्ति का जो ज्वलन्त प्रमाण दिया उसको सुनिए।

युद्ध करते करते एक वार राजा दशरथ के रथ के पहिये की कीली निकल गई। उस कीली के निकल जाने पर पहिया

नहीं ठहर सकता। उस कीली का निकलना न तो राजा को मालूम हुआ और न सारथी को। बात यह कि उस समय बड़ा घोर युद्ध हो रहा था। राजा दशरथ युद्ध करने में इतने लीन हो रहे थे कि उनको अपने तन की कुछ सुध बुध न थी। उधर उनका सारथी सुमन्त भी उस समय रथ के चलाने में इतना व्यग्र था कि उसने भी पहिये की ओर आँख उठा कर नहीं देखा। परन्तु राजा के पास ही बैठी हुई रानी कैकेयी ने उस कीली का निकलना देख लिया। रानी ने उस समय न तो रथ के ठहराने का अवकाश देखा और न उस समय और कोई उपाय किया। उसने कीली के निकलते ही अपने हाथकी उँगली कीली की जगह लगादी। पहिया ज्यों का त्यों रुक गया। रथ चलता रहा और युद्ध बराबर होता रहा। बहुत देर बाद जब राजा की दृष्टि पहिये की ओर पड़ी तब अपनी रानी की वीरता और पतिभक्ति को देखकर वे बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—"प्यारी, आज तुमने इस संकट में अपनी उँगली को कुछ पर्वा न करके, इतना कष्ट सह कर जो मेरे प्राण बचाये उसके लिए मैं तुम्हारा बहुत ऋणी हूँ। तुमने आज बड़ी वीरता का काम किया। मैं इतना प्रसन्न हूँ कि इस समय जो तुम वर माँगो मैं देने को तैयार हूँ। एक नहीं; तुमको मैं इस समय दो वर देने को तैयार हूँ। तुम्हारी जो इच्छा हो माँग लो।" रानी ने उत्तर दिया कि 'स्वामिन् मैंने जो कुछ किया है वह अपना कर्तव्य-पालन ही किया है और कुछ नहीं। एक वीर क्षत्रिय की पत्नी को जो काम करना चाहिए वही मैंने किया है। यदि आप दासी की इस सेवा से इतने प्रसन्न हैं तो मैं अपने जन्म को सफल समझती हूँ। मुझे इस समय कुछ नहीं चाहिए। कभी किसी बात की

आवश्यकता होगी तो आप से कुछ माँग लिया जायगा। आप इतनी कृपा करनी ही चाहते हैं तो मेरे ये दोनों वर आप अपने ही पास धरोहर की तरह रख लीजिए।"

राजा दशरथ सत्यवादी और सत्यप्रतिज्ञ थे। वे जो कुछ कह देते थे वही करते थे। उन्होंने कह कर अपनी बात कभी नहीं टाली। उन्होंने जो कहा वही किया। अपने वचन से फिर जाना वे मरने से भी बुरा समझते थे। प्राण चाहे भले ही चले जायँ पर वे जो पण कर देते थे वह नहीं टल सकता था।

राजा दशरथ के सत्यपालन की कीर्त सारे जगत् में छाई हुई है। यह बात कौन नहीं जानता कि राजा दशरथ ने अपनी प्रतिज्ञा के पालन करने के लिए, अपने सत्यव्रत की रक्षा के लिए अपने प्राण से भी प्यारे पुत्र राम को वनवास की आज्ञा दे दी। उन्होंने प्रिय पुत्र के वियोग में अपना प्राण दे देना अच्छा समझा, पर कैकेयी के साथ जो प्रतिज्ञा की थी उसका भंग करना अच्छा नहीं समझा।

आर्य राजाओं में राजा दशरथ की बड़ी प्रतिष्ठा थी। सब लोग उनको सत्य, धर्म और न्याय की मूर्ति बताया करते थे। राजा दशरथ ने सत्य धर्म का पालन करके, अपनी ही प्रतिष्ठा नहीं बढ़ाई किन्तु आर्यजाति का गौरव बढ़ा दिया। उन्होंने इस घटना से संसार को यह दिखा दिया कि आर्यराजा जो कहते हैं वही करते हैं। वे धर्म के सामने स्त्री, पुत्र, धन, राज्य किसी का मोह नहीं करते। और तो और, वे धर्म के पालन करने के लिए अपने प्राणों का भी तनिक मोह नहीं करते। आर्य राजा प्राण देकर भी धर्म की रक्षा में तत्पर रहते हैं।

पहले यह लिखा जा चुका है कि राजा दशरथ ऋषि-मुनियों और गायों की रक्षा करना अपना परमधर्म समझते

थे। जिस समय महर्षि विश्वामित्र राक्षसों से सताये जाने पर राजा दशरथ के पास रामचन्द्रजी को माँगने आये थे उस समय मुनि के माँगने पर उन्होंने अपने प्रिय पुत्र राम को राक्षसों से युद्ध करने के लिए वन में भेज दिया। धर्मरक्षा के लिए राजा ने रामचन्द्रजी को भेजते समय उनकी थोड़ी अवस्था का भी कुछ विचार नहीं किया। कारण यह कि वे बड़े परोपकारी थे, बड़े धर्मात्मा थे और साधु-सज्जनों के सच्चे सेवक थे।

राजा दशरथ का राज्य-पालन का ढङ्ग बहुत उत्तम था। अपनी प्रजा की रक्षा करना वे अपना मुख्य कर्तव्य समझते थे। प्रजा की विद्या-शिक्षा का ऐसा अच्छा प्रवन्ध था कि कोई मनुष्य मूर्ख या वे पढ़ा नहीं था। सब लोग विद्या पढ़ कर अपने अपने कर्तव्य पालन में तत्पर रहते थे। यही कारण था कि उन दिनों लड़ाई झगड़े कहीं नाम को भी न होते थे। सब लोग एक दूसरे को भ्रातृभाव से देखते थे और मिल जुलकर बड़े प्रेम से रहा करते थे। जब राजा धर्मात्मा और प्रजा-पालक होता है तब राज्य में कोई ईति प्रजा को नहीं सताती। यही कारण था कि राजा दशरथ के राज्य में अति-वृष्टि, अनावृष्टि, महामारी आदि ईतियों का कहीं नाम तक सुनने में नहीं आता था।

राजकाज में केवल राजा ही को सब कुछ अधिकार नहीं था। आर्यराजा भी पहले राजकाज में प्रजा को अधिकार देते थे। राजा दशरथ ने अपनी प्रजा में से कितने ही बुद्धि-मान् विद्वान् और राजनीतिकुशल धर्मात्मा मनुष्यों की एक राजसभा वना रक्खी थी। राजा दशरथ उस सभा की सम्मति बिना लिए कोई राज-काज नहीं करते थे।

जब राजा दशरथ वृद्ध हुए और उन्होंने राजकाज का भार अपने ज्येष्ठ और श्रेष्ठ पुत्र राम को सोंपने की ठानी तब उन्होंने उस काम में प्रजा की भी सम्मति ली थी। प्रजा की अनुमति लेकर ही राजा ने राम को राज्यभार देने का निश्चय किया था। चाहे राजा दशरथ की विद्वत्ता धर्मात्मता, सत्यप्रियता और प्रजारञ्जकता आदि गुणावलियों को देखकर सारी प्रजा उनको देवता के समान मानती थी, पर राजा सदा अपने को प्रजा का सेवक ही समझते थे। वे पहले तो प्रजा से कर ही बहुत कम लेते थे और जो कुछ लेते भी थे उसे वे प्रजा के ही सुख के कामों में लगा देते थे। जिस प्रकार सूर्य पृथ्वी पर से जल खींच कर समय पर वर्षा के द्वारा सब जगह पहुँचा देता है, अपने पास कुछ नहीं रखता, इसी तरह राजा दशरथ भी जो कर लेते थे उसको बढ़ा कर प्रजा के सुख के कामों में ही लगा देते थे। प्रजा के दुःख दूर करने और उसको सुख पहुँचाने के लिए राजा दशरथ तन-मन से उद्योग किया करते थे। उन्होंने प्रजा के किसी काम में कभी कुछ ढील, आलस्य या प्रमाद नहीं किया। बात यह कि वे इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि जिस राजा के राज्य में प्रजा दुःखी रहती है उसकी संसार में निन्दा तो होती ही है, किन्तु उसको परलोक में नरक-यातना भी अवश्य भोगनी पड़ती है।

इसमें सन्देह नहीं कि राजा दशरथ में अनेक ऐसे गुण थे कि जो साधारण राजा लोगों में नहीं पाये जाते, परन्तु उनके जीवन की कुछ घटनायें ऐसी भी हैं कि जो प्रशंसनीय नहीं।

राजा दशरथ के पवित्र और स्वच्छ जीवन-वस्त्र पर कहीं कहीं धब्बे पड़ गये हैं। उनके चरित-वस्त्रपर जो सबसे बड़ा

काला धब्बा पड़ा है वह बहु-विवाह का है। राजा दशरथ के जीवन-चरित में एक से अधिक विवाह का होना किसी को भी अच्छा नहीं लगता। उनका तीन तीन रानियों के साथ विवाह सभी को खटकता है। बहुविवाह एक भारी दोष है। वह धर्मविरुद्ध ही नहीं किन्तु समाज-नीति के भी विरुद्ध है। परन्तु राजा दशरथ इस दोष से नहीं बच सके। यहाँ पर यह कहा जा सकता है, कि सन्तान की उत्पत्ति के लिए ऐसा किया गया था। परन्तु इस पर हमारा यह निवेदन है कि क्या सन्तान की उत्पत्ति के लिए मनुष्य धर्म की मर्यादा का उल्लंघन कर सकता है? हमारी सम्मति में अनेक विवाह करके राजा दशरथ ने अच्छा काम नहीं किया। उनको कभी ऐसा काम न करना चाहिए था। मालूम होता है, पुत्र-मुख-दर्शन की लालसा ने राजा दशरथ को विमोहित कर दिया था। जो हो, चाहे राजा ने यह कार्य किसी भी कारण से किया हो, परन्तु हम इतना अवश्य कहे विना नहीं रह सकते कि उनका यह काम अच्छा नहीं हुआ। इस बहु-विवाह के कारण उनको जो जो कष्ट झेलने पड़े, जो जो आपदायें सहनी पड़ीं, उनको देख सुन कर कोई यह नहीं कह सकता कि इस बहुविवाह से राजा को आनन्द ही आनन्द प्राप्त हुआ, दुःख कुछ भी नहीं।

राजा दशरथ को अपनी तीनों रानियाँ समान दृष्टि से देखनी चाहिए थीं। पर ऐसा नहीं था। वाल्मीकीय रामायण के पढ़ने से पता लगता है कि छोटी रानी कैकेयी उनको सबसे अधिक प्यारी थी।

इसमें सन्देह नहीं कि रानी कैकेयी को वरदान देकर राजा दशरथ ने अपनी गुणग्राहकता और उदारता का परिचय

दिया, परन्तु कैकेयी को मुँह माँगा वर माँगने का अवकाश देकर उन्होंने अच्छा काम नहीं किया। राजा दशरथ ने अपने वचनों को पूरा करके जो सत्य-धर्म का पालन किया उसके लिए उनकी जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। पर रानी का इतना विश्वास करके उसके लिए मुँह माँगा वर माँगने की उदारता दिखाना ठीक नहीं हुआ। उनको रानी का इतना भरोसा नहीं करना चाहिए था। रानी की अनुचित प्रार्थना को पूरा करके क्या राजा दोषभागी नहीं हुए? कल्पना कीजिए कि यदि कैकेयी किसी के बहकाने से या अपनी ही मूर्खता से, कोई और, इससे भी भयङ्कर, अधर्मयुक्त बात को पूरा कराना चाहती तो क्या राजा को बिना विचारे सभी कुछ स्वीकार कर लेना चाहिए था? हम तो राजा के इस भोलेपन की कभी प्रशंसा नहीं कर सकते।

जिस समय राजा दशरथ ने श्री राम को राज्य देना चाहा था उस समय भरत और शत्रुघ्न अयोध्या में नहीं थे। वे अपने मामा के यहाँ, कैकेयी के नैहर, चले गये थे। ऐसे समय में, भरत-शत्रुघ्न को सूचना बिना दिये ही, रामचन्द्रजी को युवराज बनाना, राजा दशरथ के हृदय की सङ्कीर्णता और लघुता प्रकट करता है। पहले तो उन दोनों भाइयों के परोक्ष में यह काम नहीं करना चाहिए था। और यदि इतनी जल्दी ही थी तो उस उत्सव में सम्मिलित होने के लिए उनको भी अवश्य बुलाना चाहिए था। इस घटना से यह अनुमान किया जा सकता है कि राजा दशरथ के मन में यह सन्देह होगा कि न जाने भरत कभी स्वयं युवराज बनने की इच्छा न कर बैठे। यह कारण हो या कोई और, परन्तु भरत शत्रुघ्न के परोक्ष में श्रीराम के युवराज बनाने में कोई न कोई बात राजा के मन

में रही अवश्य होगी। कुछ हो, हमारे विचार में तो राजा को ऐसी नीति का अवलम्बन नहीं करना चाहिए था।

अच्छा, और सुनिए। जिस समय रामचन्द्रजी वन जाने को तैयार हो गये और सुमन्त सामने हाथ जोड़े खड़ा था, उस समय राजा दशरथ ने उससे क्या कहा था ? उन्होंने कहा था कि 'अयोध्या से बाहर थोड़ी दूर जङ्गल में घुमाकर इनको जल्द लौटा ला। मैं राम के बिना क्षण भर भी जीवित नहीं रह सकता।" यह माना कि श्रीराम को बिना देखे राजा दशरथ जीवित नहीं रह सकते थे, परन्तु क्या अपने को जीवित रखने के ही लिए अपनी प्रतिज्ञा का भंग करना, रानी को वर देकर उसको लौटा लेने का विचार करना कभी प्रशंसनीय कहा जा सकता है ? कभी नहीं। तो फिर उन्होंने ऐसी बात अपने मुँह से क्यों निकाली ? आप यह कह सकते हैं कि वृद्धावस्था में राजा को पुत्रमुख देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ और चारों पुत्रों में रामचन्द्रजी ही उनको अधिक प्रिय थे। इसलिए पुत्र के मोहवश होकर राजा ने ऐसा कह दिया था। परन्तु यह बात भी ठीक नहीं। उनको ऐसा न कहना चाहिए था। जब वे धर्म और सत्य के पालन करने के लिए तयार हो चुके तब पुत्र का मोह कैसा ? हम तो ऐसे मोह की प्रशंसा नहीं कर सकते जो धर्ममार्ग से अलग कर दे, कर्तव्य-पालन से विमुख कर दे और धर्मवीरों को उच्चासन से नीचे गिरा दे।

जिस समय सीता-स्वयंवर के अवसर पर रामचन्द्रजी के धनुष तोड़ने की बात सुन कर परशुरामजी को क्रोध आया था उस समय उनके क्रोध को देखकर राजा दशरथ मूर्च्छित हो गये थे। हमारी सम्मति में उस समय राजा दशरथ का भयभीत होकर अचेत हो जाना उनकी शूरवीरता में बट्टा

लगाता है। हो सकता है कि उस समय राजा को यह डर हो गया हो कि न जाने परशुरामजी इस समय उनके प्रिय पुत्र राम के साथ कैसा बुरा वर्ताव कर बैठें। सम्भव है, भार्गव के क्रोध से अपने प्रिय पुत्र के विषय में कुछ भी अनिष्ट होने की आशङ्का से ही राजा को घोरता हवा हो गई हो। उस समय राजा का इतना डर जाना एक नहीं, कई कारणों से ठीक नहीं हुआ। पहले तो राजा दशरथ स्वयं इतने शूर-वीर और पराक्रमी थे कि उनको इतना डर ही न मानना चाहिए था। दूसरे रामचन्द्रजी की असाधारण वीरता का विचार करने पर तो डरने का कोई कारण ही न था। क्या वे नहीं जानते थे कि जिन रामचन्द्रजी ने विश्वामित्र के शत्रु मारीच और सुवाहु आदि—राक्षसों को युद्ध में मार गिराया और भगा दिया, जिन्होंने राजा जनक के धनुष को बात की बात में उठा कर तोड़ डाला, उनके प्रति परशुरामजी का क्रोध क्या कर सकता है ? और फिर, उस समय राजा अकेले तो थे ही नहीं, उनके साथ उनके चारों वीर पुत्र ही नहीं किन्तु और भी अनेक वीर योद्धा थे। इतने साधनों के उपस्थित रहने पर भी, ऐसी दशा में भी, राजा का घबरा जाना हमारी तुच्छ बुद्धि में तो ठीक नहीं हुआ।

शिक्षा

जिस प्रकार हंस दूध मिले हुए जल में से जल को छोड़कर दूध का ग्रहणकर लेता है उसी तरह मनुष्य को भी उचित है कि सब जगह से अवगुणों को त्याग कर गुणों का ही ग्रहण करे।

अच्छा तो अब यह देखना चाहिए कि राजा दशरथ की जीवनी से हम क्या सीख सकते हैं। सुनिए—

१—सत्यपालन । राजा दशरथ के जीवन-चरित से जो पहली और मुख्य शिक्षा हमको मिलती है वह 'सत्यपालन' है । अपनी प्रतिज्ञा को पूरा करके, सत्य का पालन करके राजा दशरथ ने बड़े महत्त्व का काम किया । ऐसा उदाहरण संसार में विरला ही मिलेगा । देखिए, राजा दशरथ ने अपने सत्य के पालन करने के लिए अपने प्राणों से भी प्यारे पुत्र का मोह न किया और अपने जीवन तक की ममता न की । यदि राजा दशरथ उस समय पुत्र के या अपने प्राणों के मोह से अपनी प्रतिज्ञा को भंग कर देते, सत्य का पालन न करते तो आज उनका जो मान, जो गौरव सारे संसार में फैल रहा है वह कभी न फैलता । इसी सत्यपालन के कारण आज राजा दशरथ का नहीं, उनके वंश भर का, नहीं नहीं सारे भारतवर्ष का गौरव संसार में छाया हुआ है । लोग कहते हैं कि राजा दशरथ मर गये, वे अब अयोध्या में नहीं हैं । पर हम कहते हैं कि राजा दशरथ नहीं मरे । राजा दशरथ अमर हो गये । "कीर्तिर्यस्य स जीवति" के अनुसार राजा दशरथ जीवित हैं । अयोध्या में ही क्या वे करोड़ों भारतवासियों के हृदय मन्दिरों में उच्चासन पर विराजमान हो रहे हैं । जबतक जगत् में एक भी आर्य विद्यमान रहेगा तबतक राजा दशरथ भी अमर रहेंगे ।

वाचक महाशय, यदि आप भी अपने नाम और कर्म को जगत् में अमर करना चाहते हैं तो आप भी सत्य का पालन करना सीखिए । जो बात मुँह से निकालिए उसे अवश्य पूरा कीजिए । सत्यपालन करने के लिए, अपने धर्म की रक्षा करने के लिए, अपनी अटल प्रतिज्ञा को सच्चा करने के लिए मनुष्य को प्राणपण से चेष्टा करनी चाहिए ।

बालको, तुमको बचपन से ही छोटी छोटी प्रतिज्ञाओं के पालन करने का अभ्यास डालना चाहिए। यदि तुम बचपन से ही अपनी बात को पूरा करने का अभ्यास न करोगे तो फिर बड़े होने पर तुम किसी बात को भी पूरा न कर सकोगे। यदि तुम अपनी सचाई को स्थिर न कर सके, अपनी बात को अटल न रख सके तो फिर तुम्हारा हृदय बहुत ही निर्बल पड़ जायगा। फिर तुम संसार में किसी काम के न रहोगे। इसलिए तुम राजा दशरथ के जीवन-चरित से सत्यपालन की शिक्षा को ग्रहण करो और आज से प्रतिज्ञा करलो कि तुम सदैव सत्य का पालन करोगे।

२—गो-ब्राह्मण-रक्षा। दूसरी शिक्षा, जो राजा दशरथ की जीवनी से हमें मिलती है, गो-ब्राह्मण-रक्षा है। देखिए, राजा दशरथ ने देव-ब्राह्मण और ऋषि-मुनियों की रक्षा के लिए कितना कष्ट उठाया था। उन्होंने गो-ब्राह्मणों की रक्षा के लिए अनेक बार दैत्यों से युद्ध किया। अधर्मी और दुष्ट राक्षसों को दण्ड देने के लिए राजा दशरथ सदा उद्यत रहते थे। देखिए, जब महर्षि विश्वामित्र मारीच, सुबाहु आदि राक्षसों से तंग आकर सहायता के लिए राजा दशरथ के पास आये तब उन्होंने अपने पुत्रों को भेज कर उनके यज्ञ की रक्षा की। बात यह कि राजा दशरथ जानते थे कि जिस राजा के राज्य में गो-ब्राह्मण सताये जाते हैं, यज्ञादि शुभ कर्मों में विघ्न किये जाते हैं और ऋषि-मुनियों के भजनपूजन में अशान्ति फैलाई जाती है उस राजा का राज्य बहुत दिन तक स्थिर नहीं रहता। इसलिए राजा दशरथ की जीवनी से राजा महाराजाओं को विशेष कर, और सर्वसाधारण को

साधारण रीति से, सज्जन धर्मात्माओं की रक्षा, सहायता और पूजा करनी चाहिए।



कौशल्या

राजा दशरथ की तीनों रानियों में कौशल्या सब से बड़ी थीं। आयु में तो ये औरों से बड़ी थीं ही किन्तु गुणों में भी ये किसी से कम न थीं। राजपुत्री और राजपत्नी होकर भी कौशल्या राजमद से रहित थीं। वे बड़ी विदुषी थीं। वाल्मीकि-रामायण में एक स्थान पर लिखा है कि महारानी कौशल्या नित्य वेदमन्त्रों से अग्निहोत्र किया करती थीं। जिस समय वनवास की आज्ञा पाकर श्रीरामचन्द्रजी अपनी माता कौशल्याजी से विदा होने के लिए उनके मन्दिर में पहुँचे उस समय कौशल्याजी सुन्दर आसन पर बैठी हुई मन्त्र पढ़ पढ कर अग्निकुण्ड में आहुति डाल रही थीं। इस घटना से एक नहीं कई बातें सिद्ध होती हैं। एक तो यह कि पहले इस देश की स्त्रियाँ भी पुरुषों के समान अग्निहोत्र आदि करती थीं। दूसरे जिस प्रकार पुरुषों को वेद पढ़ने का अधिकार था उसी प्रकार स्त्रियों को भी था।

महारानी कौशल्या पतिपरायणा थीं, पतिभक्ता थीं और पतिव्रता थीं। सपत्नियों के होते हुए भी कौशल्या ने पति-सेवा में कभी त्रुटि नहीं आने दी।

यद्यपि कौशल्याजी के एक ही पुत्र था तथापि एक पुत्र से ही उनको जो आनन्द मिला वह हज़ार पुत्रों से भी किसी को नहीं मिलता। अपने अनुरूप गुण सम्पन्न पुत्र को पाकर महारानी कौशल्या को जो आनन्द हुआ वह कहा नहीं जा सकता।

यद्यपि पुत्र के स्नेहवश महारानी कौशल्या ने अपने प्रिय-पुत्र रामचन्द्रजी को वन जाते समय वन न जाने के लिए बहुत कुछ कहा सुना था, तथापि जब पुत्र के मुख से धर्म-पालन की दृढ़ता का वर्णन सुना तब उन्होंने भी उनको वन जाने की आज्ञा दे दी। कारण यह कि वे जानती थीं कि पिता की आज्ञा का पालन करना पुत्र का परमधर्म है। इसलिए उनको भी वनवास के लिए पुत्र को अनुमति देनी पड़ी। भला जिस पितृ-भक्ति का पाठ कौशल्या ने अपने पुत्र को बचपन से ही घूँटी के साथ पिलाया था उसके विरुद्ध वे कुछ कैसे कह सकती थीं?

देखिए, जिस समय श्रीसीताजी पति के साथ वन जाने को तैयार हो गई थीं उस समय उनकी सास, कौशल्याजी, ने कैसा अच्छा उपदेश दिया था। उस समय उन्होंने सीताजी को जो पातिव्रत का उपदेश दिया, जो शिक्षायें दीं उनके पढ़ने सुनने से यह सिद्ध होता है कि महारानी कौशल्या धर्म-शास्त्र के ज्ञान में भी बड़ी निपुण थीं। यदि वे विद्या न पढ़ी होतीं, यदि वे धर्मशास्त्र को न जानती होतीं, यदि वे कर्तव्य-पालन की महिमा से परिचित न होतीं तो उस समय पुत्र-वधू को ऐसा उत्तम उपदेश कैसे देतीं।

हमको रामायण में यह पढ़कर खेद हुआ कि पुत्र के स्नेह-वश कौशल्या ने अपने स्वामी महाराज दशरथ को दो चार कटुवाक्य कह डाले। महात्मा रामचन्द्रजी की माता के मुख से, अपने देवतुल्य पति के प्रति, वैसे वचन शोभा नहीं देते।

जिस समय राजा दशरथ के परलोक सिधार जाने पर भरत और शत्रुघ्न केकय देश से अयोध्या को आये थे उस समय रानी केकयी के महलों में भरत की बोली पहचान कर कौशल्या ने केकयी और भरत के विषय में जो तीक्ष्ण वाग्वाणों की वर्षा की थी वह उनके योग्य न थी । उनको ऐसा नहीं कहना चाहिए था । यही नहीं, किन्तु जिस समय भरत कौशल्याजी के दर्शन करने के लिए रोते रोते उनके समीप आये थे उस समय भी रानी ने उनके शोकसन्तप्त हृदय को कठोर वचनों से वहुत व्यथित किया था । भरत जैसे सुशील पुत्र के विषय में राममाता के मुख से ऐसी ऐसी बातें नहीं निकलनी चाहिए थीं । यही दो एक बातें कौशल्याजी के जीवन-चरित में हमें खटकती हैं । परन्तु हमें इन त्रुटियों की ओर इतना ध्यान नहीं देना चाहिए । हमें तो उनके गुणों से काम है । हमें उनके गुणों से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए ।



सुमित्रा

राजा दशरथ की दूसरी रानी का नाम सुमित्रा था । उसका जैसा नाम था गुण भी उसमें वैसे ही थे । वास्तव में सुमित्रा सुमित्रा ही थी । सुमित्रा भी कौशल्या के समान विदुषी थी । वह बड़ी धर्मात्मा थी । वह अपने धर्मपालन के लिए सदैव उद्यत रहती थी । वह बड़ी भक्ति से पतिसेवा किया करती थी । उसने कभी स्वप्न में भी पति को बुरे वचन नहीं कहे ।

जो नारी बचपन से ही प्रियभाषण की शिक्षा पा चुकी हो और जो सबके साथ सद्व्यवहार, प्रियभाषण का वर्ताव रखती हो, वह भला अपने देवसमान स्वामी के प्रति कटु-भाषण कैसे कर सकती है।

सुमित्रा सचमुच गृहलक्ष्मी थी। वह अपनी सपत्नियों के साथ बड़े प्रेम से रहती थी। उसने कभी किसी से किसी बात पर कोई झगड़ा टण्टा नहीं किया। वह कौशल्या और कैकयी को अपनी सगी बहन के समान समझती थी।

सुमित्रा की बुद्धिमत्ता, दूरदर्शिता, गम्भीरता, धर्मनिष्ठता और कर्तव्यपरायणता आदि सद्गुणों का जीता जागता प्रमाण हमको उस घटना से मिलता है जब रामचन्द्रजी के साथ वन जाने के लिए लक्ष्मणजी ने उनसे आज्ञा माँगी थी। बड़े भाई की सेवा के लिए वन जाते समय लक्ष्मणजी के धर्मयुक्त वचनों को सुनकर सुमित्रा ने निःसङ्कोच भाव और प्रसन्नता से कहा था :—

"रामं दशरथं विद्धि, मां विद्धि जनकात्मजाम्।
अयोध्यामटवीं विद्धि, गच्छ तात यथासुखम्॥"

"हे प्रिय पुत्र, तू सुखपूर्वक वन को जा। तू राम को पिता दशरथ समझ, जानकी को माता समझ और वन को अयोध्या समझ।"

अहा! आर्यरानी के मुख से ये शब्द कैसे अनुपम भाव-पूर्ण, धर्ममय और अनुकरणीय निकले थे। महारानी सुमित्रा के हृदय की उच्चाशयता इस श्लोक के पद पद से टपक रही है। और कोई साधारण स्त्री होती तो क्या अपने प्रिय पुत्र को सपत्नी के पुत्र के साथ १४ वर्ष वनवास के लिए भेजने को तयार हो जाती? कभी नहीं। परन्तु सुमित्रा धर्म की मर्यादा

को जानती थी। उस समय उसने अपने पुत्र को प्रसन्नतापूर्वक श्रीराम के साथ वन जाने की आज्ञा देकर बड़े महत्त्व का काम किया, बड़ी दूरदर्शिता का काम किया और बड़े धर्म का काम किया। हम सुमित्रा की इस उदारता को सहस्रमुख से प्रशंसा किये विना नहीं रह सकते।



केकयी

राजा दशरथ की तीसरी, सबसे छोटी, रानी का नाम केकयी था। उसका नाम केकयी इस कारण था कि वह केकय देश के राजा की पुत्री थी। जब राजा दशरथ को दो विवाह करने पर भी कोई पुत्र-लाभ न हुआ तब उन्होंने पुत्रलाभ के लिए तीसरा विवाह किया। केकयी राजा दशरथ की रानी बनकर बड़े आनन्द से अयोध्या में रहने लगी।

केकयी ने राजा दशरथ की सेवा करके उनको प्रसन्न कर लिया। राजा दशरथ भी अन्य रानियों की अपेक्षा केकयी को अधिक प्यार करने लगे। अपने पति राजा दशरथ के मन को अपनी मुट्ठी में करके रानी केकयी ने बड़ा आनन्द माना।

भरत को उत्पन्न करके केकयी को जो आनन्द प्राप्त हुआ वह कहा नहीं जा सकता। राम और भरत दोनों का रूप-रङ्ग समान था। दोनों श्यामसुन्दर थे।

केकयी पतिव्रता स्त्री थी। वह अपने स्वामी को प्राणों से भी अधिक प्यार करती थी। एक बार जब देवासुर संग्राम

में राजा दशरथ देवों के सहायतार्थ युद्ध के लिए गये थे। तब उनके साथ उनकी प्यारी रानी केकयी भी गई थीं। उस समय उनके साथ केकयी का जाना बहुत ही अच्छा हुआ। यदि उस युद्ध में केकयी न होती तो राजा दशरथ को महा-संकट में पड़ना पड़ता।

यद्यपि इस घटना का उल्लेख हम राजा दशरथ के चरित में कर चुके हैं तथापि प्रसंगवश यहाँ भी उसका कुछ वर्णन कर देना अनुचित न होगा। सुनिए—

जब युद्ध करते समय राजा के रथ के पहिये की कीली निकल गई और पहिया निकलना ही चाहता था उस समय रानी केकयी ने रथ में वैठे ही वैठे कीली के स्थान में अपनी उँगली लगा दी। रथ चलता रहा। युद्ध होता रहा। जब युद्ध समाप्त हो चुका तब राजा ने देखा तो रानी के इस उपकार की, इस साहस की, इस स्वामिभक्ति की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की। इस उपकार के वदले में राजा रानी को केवल धन्यवाद ही देकर चुप न रहे किन्तु उन्होंने वरदान देने की प्रतिज्ञा करके अपनी उदारता और गुणग्राहकता का परिचय दिया। पति को प्रसन्न करके और उनसे वरदान की प्रतिज्ञा लेकर रानो को बड़ा आनन्द हुआ।

वरदान की प्रतिज्ञा करते समय राजा या रानी दोनों में किसी को भी इस बात का स्वप्न में भी ध्यान न था कि रण-भूमि की इस वरदान की प्रतिज्ञा से भविष्य में क्या क्या घट-नायें घटित होंगी।

केकयी ने वह वरदान अपने स्वामी के पास धरोहर सा रख दिया। जब राजा दशरथ ज्येष्ठ और श्रेष्ठ पुत्र रामचन्द्रजी को युवराज बनाने की तयारी करने लगे और रामचन्द्रजीके

राजतिलक होने में एक ही दिन बीच में रह गया तब मन्थरा के बहकाने से केकयी ने कपटजाल फैलाया। उस जाल में महाराजा दशरथ फँस गये। रानी की माया चल गई। उसने राजा को पहले वरदान की बात याद दिला कर अपना काम बना लिया। दो वरदान लेने थे, दो ही बातें उसने सिद्ध करलीं। पहली बात भरत को राजतिलक और दूसरी बात रामचन्द्र को चौदह वर्ष का वनवास।

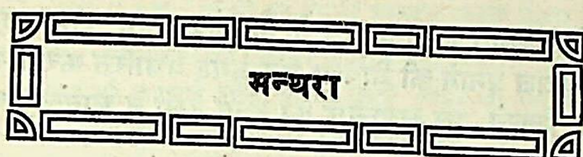
यद्यपि प्राणप्रिय रामचन्द्रजी के लिए चौदह वर्ष के वनवास की बात सुनकर राजा को अपार दुःख हुआ तथापि सत्य की रक्षा और प्रतिज्ञा के पालन करने के लिए, लाचारी, केकयी की बात को वे टाल न सके। बात यह कि केकयी ने राजा को इस प्रकार अपने प्रेमजाल में फाँस रक्खा था कि हज़ार प्रयत्न करने पर भी राजा उस जाल को काटने में समर्थ न हो सके। केकयी की हठ पूरी हुई। रामचन्द्रजी को वन-वास की आज्ञा मिल गई और केकयी-सुत भरत को राजगद्दी देने की बात निश्चित हो गई।

आलोचना

केकयी का जीवन-चरित पढ़ कर जहाँ इस बात का पता लगता है कि वह पतिभक्ता थी, वीराङ्गना थी, साहसवती थी, वहाँ उसकी स्वार्थान्धता, अदूरदर्शिता और दूसरे के बहकाने में आकर, बिना विचारे, सब कुछ कर डालने के दोष का भी पता लगता है। जहाँ हम केकयी के उस साहस और वीरता की सहस्रमुख से प्रशंसा करते हैं, जो रणभूमि में उसने अपने स्वामी के सहायतार्थ दिखाई थी, वहाँ साथ ही हम राम जैसे सीधे सादे पुत्र को, जो केकयी को कौशल्या से कभी कम माननीया नहीं समझते थे, चौदह वर्ष वनवास

दिलाने के नीच काम की मुक्तकण्ठ से निन्दा भी करते हैं। चाहे केकयी के इस निन्दनीय स्वार्थपरक कार्य का परिणाम दैवयोग से अच्छा ही निकल आया, पर इसके लिए केकयी की प्रशंसा नहीं की जा सकती। उसकी तो निन्दा ज्यें की त्यों ही बनी रहती है। केकयी के जीवन की इस घटना से यह बात स्पष्ट सिद्ध हो जाती है कि केकयी की बुद्धि अल्प थी, विचार अनुदार थे। ऐसा न होता तो क्या वह अपनी दासी मन्थरा के बहकाने से ऐसा अनर्थ करने पर उतारू हो जाती। यहाँ पर कोई यह कह सकता है कि सारा संसार स्वार्थी है सब कोई अपने ही स्वार्थ की सिद्धि में लगे रहते हैं। ऐसी दशा में अपने पुत्र को राज्य दिलाने के लिए केकयी ने जो प्रयत्न किया वह क्या बुरा किया ? इसका उत्तर यह है कि अपने स्वार्थ की सिद्धि में प्रत्येक मनुष्य को घोर परिश्रम और उद्योग तो करना चाहिए, परन्तु उसे स्वार्थ में इतना अन्धा न हो जाना चाहिए कि धर्माधर्म का ज्ञान ही न रहे, न्याय अन्याय का विवेक ही न रहे। जब चारों भाइयों में बड़े होने के कारण रामचन्द्रजी धर्मन्यायानुसार राज्य पाने के अधिकारी थे तब उनको वन में भिजवा कर भरत को, जो राम से छोटे थे, राज्य दिलाने का प्रयत्न करना केकयी का अधर्म और अन्याय नहीं था तो और क्या था ? केकयी ने स्वार्थ में अन्धी होकर अपने धर्म की मर्यादा को, कुल की मर्यादा को, तिनके के समान तोड़ कर फेंक दिया।

हम चाहते हैं कि भारत का नारी-समाज केकयी के दोषों पर कुछ भी ध्यान न देकर उसके गुणों का ही ग्रहण करे। केकयी की वीरता और स्वामिभक्ति भारत-नारियों के लिए अनुकरणीय है।



मन्थरा

प्रसंगानुसार मन्थरा के विषय में भी दो चार बातें लिख देना आवश्यक है। मन्थरा केकयी की प्रधान और प्यारी दासी थी। उसे केकयी के विवाह में ही, उसकी सेवा के लिए, उसके पिता ने अयोध्या भेज दी थी।

केकयी के साथ अयोध्या में आकर मन्थरा ने अपनी सेवा से यों तो सभी को प्रसन्न किया, पर केकयी उसकी भक्ति से वहुत ही प्रसन्न हुई। वह सदैव अपनी स्वामिनी केकयी की हितचिन्ता में रहती थी। उसने कभी केकयी का अहित नहीं होने दिया। केकयी भी ऐसी हितकारिणी दासी को पाकर वड़ी प्रसन्न रहती थी। वह मन्थरा का वहुत आदर करती थी। मन्थरा जो कुछ कहती थी उसके मानने में केकयी को तनिक भी सोच-संकोच न होता था।

मन्थरा वड़ी वुद्धिमती थी। उसकी भाषण-शैली ऐसी उत्तम थी, उसके कथन का ढंग ऐसा अच्छा होता था कि जिस बात को वह कहती थी उस वात का फोटो सा खींच देती थी। उसकी युक्तियुक्त वातों को सुन कर सव लोग दंग रह जाते थे। सुनने वालों पर उसके कथन का ऐसा प्रभाव पड़ता था कि सबको उसकी वात मान लेनी पड़ती थी।

मन्थरा भेद-नीति के जानने में वड़ी निपुण थी। तोड़ फोड़ करके मनुष्य के चित्त को इधर का उधर कर देना उसके लिए वायें हाथ का खेल था।

जिस समय राजा दशरथ ने कौशल्यानन्दन रामचन्द्रजी को युवराज बनाने की घोषणा सब जगह प्रचारित करदी उस समय जिसने इस समाचार को सुना उसी ने आनन्द प्रकाशित किया।

हम पहले ही लिख चुके हैं कि मन्थरा कूट-नीति में बड़ी कुशल थी। हम यह भी कह चुके हैं कि वह अपनी रानी—केकयी—की हानि की सम्भावना तक को नहीं सह सकती थी। केकयी के पक्ष की हानि की शङ्का मात्र से उसका हृदय काँपने लगता था। यह अच्छी बात थी कि मन्थरा किसी आपत्ति की आशङ्का मात्र से विवेकहीन नहीं हो जाती थी। वह धीरज वाली ऐसी थी कि घोर से घोर आपत्ति के समय भी धीरज को हाथ से नहीं जाने देती थी। वह महाकठिन अवसर पर भी बुद्धि को सावधान रखकर निस्तार का उपाय ढूँढ़ निकालती थी।

रामचन्द्रजी के राजतिलक की बात सुनते ही मन्थरा की छाती पर साँप सा लोटने लगा। उसके पैरों तले से पृथ्वी निकल गई। वह मन में सोचने लगी कि यदि राम को राजगद्दी दे दी जायगी तो रानी केकयी को सदा के लिए सपत्नी कौशल्या का मुँह देखकर रहना होगा। उस समय जो बात रामचंद्रजी की होगी वह भरत को स्वप्न में भी प्राप्त न हो सकेगी। भरत की स्त्री—माण्डवी—को सदैव सीता की कृपाकांक्षिणी बनना पड़ेगा। यही नहीं, मुझे भी जो अब चैन है वह हवा हो जायगा। मुझे ही क्या, केकयी के सभी सम्बन्धियों को कौशल्या का मुखापेक्षी होना पड़ेगा।

इतना सोचते ही मंथरा का चेहरा उतर गया। वह कुछ देर तक शोकसागर में निमग्न हो गई। पर उसकी यह दशा

बहुत देर तक न रही। थोड़ी ही देर में उसका मुखारविन्द फिर खिल गया। उसकी सारी चिन्ता न जाने कहाँ विलीन हो गई।

मन्थरा की स्मरण शक्ति इतनी बढ़ी चढ़ी थी कि उसको बरसों की बातें ऐसी याद रहती थीं जैसी कल की हों। रानी केकयी को जो दो वर देने की प्रतिज्ञा राजा ने की थी वह मन्थरा को उसी समय याद आ गई। उसी को सोचकर, अपनी कूटनीति और भेदनीति को चरितार्थ करने के लिए, वह तुरन्त केकयी के पास पहुँची। जैसे ही उसने रामचन्द्रजी के राजतिलक की बात अपने मुँह से निकाली वैसे ही उसकी बात पूरी भी न होने पाई थी कि इतने में, रानी प्रसन्न होकर उसको अपने गले का बहुमूल्य रत्नहार निकाल कर देने लगी। परन्तु क्या मन्थरा ने यह समाचार केकयी को इसलिए सुनाया था कि इसके बदले में उसे कुछ पारितोषिक मिले? क्या महारानी केकयी की प्रधान दासी को धन की कुछ कमी थी जो वह ऐसी इच्छा करती? क्या उस समाचार को उसने इसलिए सुनाया था कि उसे सुनकर केकयी को इतना हर्ष हो जितना उस समय उसको हुआ? नहीं। इन बातों में से कोई भी बात न थी।

यह देख कर मन्थरा अचम्भे में होकर कहने लगी—रानीजी! क्या हँस रही हो, यह समय हँसने का नहीं रोने का है। तुम राम के अभिषेक की बात सुनकर आनन्द में व्यर्थ क्यों फूलती हो? अब तुम्हारे ये सुखानन्द के दिन गये। अब तुम्हारे, तुम्हारे पुत्र—भरत—के, और साथ ही हमारे भी, दिन बुरे आ गये।"

इस प्रकार रङ्ग में भङ्ग देख कर पहले तो रानी केकयी को मन्थरा की बातें बहुत बुरी लगीं, मन्थरा को उसने पागल

समझा। जिस समय मानिनी मन्थरा ने कूटनीति के अस्त्र का प्रयोग किया, अपना भेद-नीति-पूर्ण भाषण सुनाया, और इधर उधर की अनेक ऊँच नीच की बातें सुनाईं उस समय रानी केकयी का मन डावाँडोल हो गया। मन्थरा की बातें उसके हृदय में पत्थर की लकीरें हो गईं। केकयी का मन फिर गया। मन्थरा की चाल में आकर केकयी के मनमें स्वार्थ का अटल राज्य हो गया।

यह मन्थरा की ही करतूत थी जो रानी केकयी ने अपने पुत्र भरत के लिए राजतिलक का निश्चय कराया और रामचन्द्रजी को चौदह वर्ष का वनवास दिलाया।

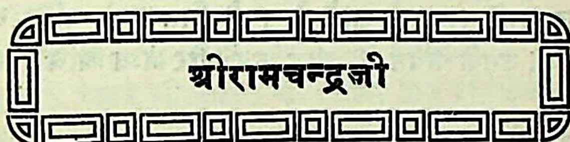
इस घटना का मूल कारण मन्थरा ही थी। यदि वह न होती तो यह सब बखेड़ा ही न होता।

हाँ, एक बात कहनी तो हम भूल ही गये। वह यह कि मन्थरा कुबड़ी थी। उसकी पीठ पर एक बड़ा सा कूबड़ निकला हुआ था। इस कूबड के विषय में एक बात का उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है। वह यह कि जिस समय मन्थरा ने अपने वाग्जाल में केकयी को दृढ़ता से फाँस लिया था उस समय केकयी ने कहा था कि "प्यारी दासी, तुम्हारी पीठ पर यह जो उठा हुआ मांसपिण्ड है यह कूबड़ नहीं, विधाता ने चातुर्य्य को इकट्ठा करके इस स्थान पर रख दिया है। यह उसी का ढेर है।"

पर, जब रामचन्द्रजी वन को चले गये तब केकय देश से आने पर भरत शत्रुघ्न ने कुबड़ी के उसी कूबड़ को देख कर कहा था कि "पापिन, तेरी पीठ पर जो यह कूबड़ उठा हुआ है यह मांसपिण्ड नहीं, विधाता ने सब दोषों को इकट्ठा करके तेरी पीठ पर लाद दिया है।"

आलोचना

कभी कभी बुराई में भी कुछ भलाई निकल आया करती है। यद्यपि मन्थरा की यह चाल बहुत ही निन्दनीय थी, उसके इस काम की सारा संसार निन्दा ही करता है, तथापि उसके इस निन्द्य कर्म में भी दैवयोग से कुछ भलाई निकल आई। वह यह कि यदि मन्थरा के बहकाने से केकयी रामचन्द्रजी के। वनवास की आज्ञा न दिलाती ते। न कोई राक्षस मारा जाता, न लोकरावण-रावण-ही का नाश होता और न लङ्का विजय करने पर रामचन्द्रजी आदि के। जो कीर्तिलाभ हुआ,वह होता और न इस रामायण की रचना होती। यह जो सब कुछ हुआ से। केवल मन्थरा की सुमति या कुमति से ही हुआ। इसलिए मन्थरा के कर्तव्यों पर जो बुरा भला कहने के। हमारा जी चाहता था वह इसी बात के। सोचकर रुक जाता है। इसलिए हम यहाँ मन्थरा के विषय में और कुछ लिखना आवश्यक नहीं समझते। मन्थरा की भली बुरी बातों पर स्वतंत्रता से विचार करने का भार हम अपने वाचकों पर ही छोड़ते हैं।



श्रीरामचन्द्रजी

श्री रामचन्द्रजी कौशल्या के पुत्र थे। चारों भाइयों में वही सबसे बड़े थे। उनका रूप बड़ा ही दर्शनीय था। उनकी सुन्दर मूर्त्ति ऐसी मनोमोहिनी थी कि जो कोई देखता वही मोहित हो जाता था। उनकी आकृति जैसी सुन्दर थी वैसे ही वे गुण में भी भरपूर थे।

गुरु वशिष्ठ की सेवा में रह कर रामचन्द्रजी ने वेद, वेदाङ्ग आदि सभी शास्त्रों का अच्छी तरह अध्ययन किया। धनुर्विद्या में, अस्त्रविद्या में और युद्ध-विद्या में उन्होंने बड़ा नाम पाया था। कुलगुरु वशिष्ठजी और विश्वामित्रजी की कृपा से वे क्या शास्त्रविद्या, क्या शस्त्रविद्या सभी में निपुण हो गये।

रामचन्द्रजी बचपन से ही इतने सुशील थे कि सब लोग उनको सुशीलता की मूर्त्ति कहा करते थे। रामचन्द्रजी समदर्शी थे। उन्होंने कभी किसी को विषम दृष्टि से नहीं देखा। जिस तरह वे माता कौशल्या की सेवा किया करते थे उसी तरह सुमित्रा और केकयी को भी सेवा से प्रसन्न करने में त्रुटि नहीं होने देते थे।

रामचन्द्रजी ने खेल में भी किसी से झूँठ नहीं बोला, कभी किसी को कुवाच्य नहीं कहा और कभी किसी की वस्तु बिना पूँछे नहीं छुई।

रामचन्द्रजी के भाषण का ऐसा उत्तम ढंग था कि जिसे सुनकर सभी प्रसन्न हो जाते थे। वे मितभाषी और सत्यवादी थे। उनके कथन में शब्द कम और भाव अधिक होता था।

रामचन्द्रजी आचार्यकुल से विद्याध्ययन करके आये थे कि इतने में महर्षि विश्वामित्र ने अपने यज्ञ के रक्षार्थ उन्हें आ माँगा। राजा दशरथ बड़े ही धार्मिक थे। उन्होंने महर्षि की आज्ञा पाते ही अपने प्रिय पुत्र राम को उनके साथ कर दिया। रामचन्द्रजी चले तो लक्ष्मणजी भी उनके साथ चल दिये। कारण यह कि लक्ष्मणजी अपने बड़े भाई के बिना क्षणभर भी अलग रहना पसन्द नहीं करते थे।

रामचन्द्रजी ने मुनि के साथ जाकर उनके यज्ञ की रक्षा बड़ी सावधानता से की। मुनि के शत्रु दुष्ट राक्षसों को उन्होंने बात की बात में मार भगाया। लक्ष्मणजी ने भी उनकी बड़ी सहायता की।

इस प्रकार मुनि की आज्ञा का पालन करके जब वे निश्चिन्त हुए तब वहीं उनको यह समाचार मिला कि राजर्षि-जनक ने अपनी राजधानी मिथिला पुरी में एक स्वयंवर यज्ञ रचा है। उनको यह भी विदित हो गया कि राजा जनक ने अपनी पुत्री सीता के विवाह के लिए यह प्रतिज्ञा कर रखी है कि जो वीर शिव-धनुष को उठाकर उस पर बाण चला सकेगा उसीको सीता समर्पित की जायगी।

इस समाचार को सुनकर महर्षि विश्वामित्र राम लक्ष्मण की भी इच्छा देखकर उनको भी साथ ले जनकपुरी को चल दिये। वहाँ पहुँच कर उन्होंने धनुष को देखा तो मालूम हुआ कि इस धनुष को बड़े बड़े मानी वीर उठाना चाहते थे, पर पूरा बल लगाने पर भी कोई इस काम में सफल न हो सका।

एक दिन मुनि की आज्ञा से रामचन्द्रजी ने भी उस धनुष के उठाने की तयारी की। जिस दिन रामचन्द्रजी धनुष उठाने वाले थे उस दिन धनुष के देखने के लिए सैकड़ों नहीं सहस्रों नर-नारियों की भीड़ लग गई। परन्तु जैसे ही रामचन्द्रजी धनुष के पास पहुँचे वैसे ही उन्होंने उस धनुष को सुगमता से उठा लिया। उठाकर जैसे ही उन्होंने उसकी प्रत्यञ्चा खींची वैसे ही तड़ से उसके दो टुकड़े हो गये।

रामचन्द्रजी के बलपौरुष को देख कर सब लोग दंग रह गये। राजा जनक के आनन्द की सीमा न रही। उस समय

सीताजी को जो आनन्द हुआ होगा उसके वर्णन करने की शक्ति हमारी लेखनी में नहीं।

राजर्षि जनक ने महाराज दशरथ को बुलाकर बड़ी धूम धाम के साथ सीताजी का ब्याह रामचन्द्रजी के साथ कर दिया। सीताजी की तीन बहनें और थीं। वे तीन लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न को ब्याह दी गईं। उनके नाम क्रमशः ये थे—उर्मिला, माण्डवी और श्रुतकीर्ति।

विवाह के अनन्तर रामचन्द्रजी अयोध्या में आकर आनन्दपूर्वक रहने लगे।

रामचन्द्रजी का स्वभाव ऐसा विचित्र था कि न तो वे आनन्द की बात सुनकर आपे से बाहर होते थे और न दुःख की बात सुन कर इतने कुढ़ते ही थे कि जो किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाँय। यही कारण था कि अपने राजतिलक के समाचार को सुन कर उनके चित्त पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा और न जब केकयी की करतूत से उनको बन जाने की आज्ञा मिली, तब उनके मुखमण्डल पर कुछ उदासी छाई। वे हर्ष-शोक में समान ही रहते थे।

पितृभक्ति का इससे अधिक और क्या प्रमाण मिल सकता है कि पिता की आज्ञा से, उनके सत्य की रक्षा के लिए राम-चन्द्रजीने चौदह वर्षतक वनमें रहना सहर्ष स्वीकार कर लिया। गुरु वसिष्ठ और भाई भारत के समझाने पर भी उन्होंने अपने पिता की प्रतिज्ञा का भङ्ग करना उचित नहीं समझा।

रामचन्द्रजी बड़े नीतिज्ञ थे। जब वे वन जाने के लिए तयार हुए तब उनके साथ जाने के लिए सीताजी भी हठ करने लगीं। उस समय रामचन्द्रजी ने सीताजी को वनवास

के कठिन क्लेशों की बात सुना कर उनकी दृढ़ता की परीक्षा लेकर बड़ी बुद्धिमत्ता का काम किया।

रामचन्द्रजी ने वन में वस कर ऐसी उत्तमता से मुनि-वृत्ति का पालन किया कि कभी किसी बात में त्रुटि नहीं होने दी। उन्होंने निषादराज के राजसी आतिथ्य को मुनि-वृत्ति में रहने के कारण ग्रहण नहीं किया। उत्तमोत्तम पर्यङ्कों के होते हुए भी उन्होंने भूमिशय्या को ही उत्तम समझा। नानाप्रकार के स्वादिष्ठ भोज्य पदार्थों के स्थान में उन्होंने वन के फलादि का ही आहार किया। यहाँ तक कि अयोध्या से निकल कर चौदह वर्ष तक किसी बस्ती में उन्होंने पैर तक नहीं रक्खा। अयोध्या से निकल कर फिर वनवास को समाप्त करके अयोध्या में ही उन्होंने पैर रक्खा, और किसी नगर या ग्राम में नहीं।

रामचन्द्रजी सत्यप्रतिज्ञ इतने थे कि जो बात वे एक वार मुँह से निकालते थे उसको पूरा किये विना कभी नहीं छोड़ते थे। इनके विषय में लिखा है—'रामो द्विर्ना विभाषते' मतलब यह कि राम दो वार नहीं कहते। एक वार जो कह दिया बस उसी पर अटल हो गये।

रामचन्द्रजी में परोकार करने का ऐसा अच्छा गुण था कि वे दूसरे के कष्ट को देख नहीं सकते थे। यों तो वे प्राणिमात्र की रक्षा करना अपना कर्तव्य समझते थे, पर ब्राह्मणों की, ऋषिमुनियों की और गायों की रक्षा करना वे अपना प्रधान कर्तव्य समझते थे। एक वार, राक्षसों से सताये जाने पर अनेक वनवासी महात्माओं ने रामचन्द्रजी के शरण आकर अपनी रक्षा के लिए उनसे प्रार्थना की। रामचन्द्रजी ने महात्माओं को दुष्टों के अत्याचार से बचाने

की प्रतिज्ञा की और राक्षसों के मारने का भी वचन दिया। विराध और कवन्ध आदि अनेक अधर्मी, अत्याचारी राक्षसों को मार कर उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा को पूरा किया।

किस मनुष्य में किस प्रकार की कितनी योग्यता है, इस बात को रामचन्द्रजी अच्छी तरह जानते थे। उनमें दूसरे के स्वभाव की पहचान करने का बहुत बड़ा गुण था। जिस समय भरतजी रामचन्द्रजी को वापस लेने के लिए चित्रकूट पर गये थे उस समय भरतजी को आता देख कर दूर से ही लक्ष्मणजी ने अपने मनमें सन्देह प्रकट किया, और स्पष्ट कह दिया कि भरत का मन पवित्र नहीं है। पर इस बात को सुनकर रामचन्द्रजी को लेश मात्र भी भरतजी के विषय में सन्देह नहीं हुआ। बात यह कि वे मनुष्य-स्वभाव के उत्तम परीक्षक थे। वे भरतजी के स्वभाव को अच्छी तरह जानते थे। उन्होंने भरतजी को विना ही देखे, पहले से ही, स्पष्ट कह दिया कि चाहे समुद्र अपनी मर्यादा का उल्लंघन कर जाय पर भरत के स्वभाव में कभी दोष उत्पन्न नहीं हो सकता।

रामचन्द्रजी बड़े गम्भीर और शान्त थे। वे जो काम करते थे खूब सोच समझ कर करते थे। उन्होंने एक वार नहीं कई वार अपने इन गुणों का परिचय दिया। जिस समय वनवास की आज्ञा का समाचार रामचन्द्रजी ने लक्ष्मण जी को सुनाया उस समय लक्ष्मणजी को बहुत क्रोध आ गया था। उस समय वे क्रोध में इतने उन्मत्त हो गये थे कि वे अपने पिता, भाई भरत, माता केकयी और उनके सभी सम्बन्धियों और सहायकों को बुरी भली सुनाने लगे थे। परन्तु उस समय भी रामचन्द्रजी ने बड़ी धीरता, गम्भीरता

और दूरदर्शिता का परिचय दिया । उन्होंने लक्ष्मणजी की बातों को युक्ति और प्रमाणों से काट कर उनको समझाया और अपनी शान्तिप्रियता का परिचय दिया।

सामाजिक और धार्मिक नियमों के पालन करने में रामचन्द्रजी ने कभी तनिक भी ढील नहीं की । इसका प्रमाण यह है कि कबन्ध राक्षस को मार कर उन्होंने उसे यों ही जंगल में नहीं पड़ा सड़ने दिया किन्तु उसको जला कर भस्म कर दिया। वे जनते थे कि यदि कबन्ध का बड़ा शरीर यों ही पड़ा सड़ता रहेगा तो दुर्गन्धि से सारा वन दुर्गन्धित हो जायगा और फिर सारे वनवासियों का स्वास्थ्य बिगड़ जायगा। इसलिए उन्होंने केवल लक्ष्मणजी की ही सहायता से उस कबन्ध के शव को भस्म कर दिया।

रामचन्द्रजी में वृथाभिमान का नाम भी न था। इक्ष्वाकु-वंश में पैदा होने, धर्मधुरन्धर राजा दशरथ के पुत्र होने आदि गुणों का उनके मन में तनिक अभिमान न था। क्या छोटा क्या बड़ा वे सभी से बड़ी प्रीति से मिलते थे। वे अपने प्रभुत्व के घमंड में आकर कभी किसी छोटे से छोटे मनुष्य का भी अनादर नहीं करते थे। जिस समय वन में रामचन्द्रजी सीताजी को खोजते फिरते थे उस समय मार्ग में पम्पा-सरोवर के तट पर, शबरी के आश्रम में पहुँच कर उसका आतिथ्य बड़े प्रेम से ग्रहण किया था। उन्होंने शबरी को भीलजाति की समझ कर उससे घृणा नहीं की। उलटा उन्होंने उसकी तपश्चर्या और भक्ति की प्रशंसा की और उसके दिये हुए फल-मूलादि के आतिथ्य को ग्रहण किया।

रामचन्द्रजी बड़े ही शरणागतवत्सल थे । अपने शरण आने पर वे सबको अभय कर देते थे। सदैव शरण आने पर

उन्होंने शरणागत की जी-जान से रक्षा की। वे जिसको एक बार अपने मन में स्थान देते थे, एक बार जिसका विश्वास कर लेते थे, फिर सारे जन्म उसको वैसा ही समझते रहते थे। जिस समय लङ्का के विजय करने और सीताजी के लाने के लिए रामचन्द्रजी सुग्रीव की सेना को साथ ले समुद्र उतरने की तैयारी कर रहे थे उस समय अपने भाई रावण से लड़ाई करके विभीषण उनके पास वहीं आया था। उसे दूर से ही आता देख कर सब लोगों ने अपनी अपनी कल्पना के अनुसार रामचन्द्रजी को यही सम्मति दी थी कि आप इसको विश्वास-पात्र न समझिए। नहीं मालूम यह रावण ही है या उसका भेजा हुआ कोई गुप्त चर है। इसी प्रकार किसी ने कुछ कहा, किसी ने कुछ। परन्तु लक्ष्मण, सुग्रीव, आदि योग्य जनों के कहने पर भी रामचन्द्रजी ने उनकी बात नहीं मानी। उन्होंने कह दिया कि 'देखो, जब वह इतनी दूर से हमारे शरण आ रहा है तब चाहे यह कोई भी क्यों न हो मैं उसको अभयदान देता हूँ।" सारांश यह कि रामचन्द्रजी ने विभीषण को अपने शरण में ले लिया और अन्त तक उसकी रक्षा की।

उस समय रामचन्द्रजी ने उसके साथ बड़ी नीतिमत्ता का काम किया। उसको उन्होंने 'लंकेश्वर' कहकर पुकारा और यह कह दिया कि लङ्का का राज्य रावण के मारे जाने पर, विभीषण को ही दिया जायगा। रामचन्द्रजी की यह नीति बड़े काम की निकली। उनकी इस नीति के वर्ताव से प्रसन्न होकर विभीषण ने लङ्का विजय करने में उनको बड़ी सहायता दी। यदि उस युद्ध में विभीषण से जो सहायता मिली वह न मिलती तो लङ्का का विजय करना इतना सुगम न होता।

आवश्यकता पड़ने पर सब किसी से सहायता लेने की नीति भी रामचन्द्रजो खूब जानते थे। अपने कार्य सिद्ध करने के लिए उन्होंने वनवासी सुग्रीव को ही मित्र बना लिया। मित्र-धर्म का उन्होंने किस प्रकार पालन किया—इसको विस्तारपूर्वक लिखकर बतलाने की ज़रूरत नहीं।

रामचन्द्रजी अपने भाई लक्ष्मण को कितना चाहते थे इस बात के जानने के लिए एक घटना का उल्लेख करना आवश्यक है। जिस समय मेघनाद ने युद्ध करते समय लक्ष्मणजो की छाती में शक्ति-बाण मारा था उस समय लक्ष्मणजी को को मूर्च्छित अवस्था में देखकर रामचन्द्रजो ने जो कारुणिक क्रन्दन किया था वह बड़ा ही हृदयविदारक है। मूर्च्छित लक्ष्मण के सिर को अपनी जंघा पर रखकर, विलाप करते समय, रामचन्द्रजीने कहा था कि हे भाई, यदि मैं ऐसा जानता, यदि मुझे तुम्हारी यह गति पहले से ज्ञात होती, तो मैं पिता के वचन को मान कर यहाँ न आता। अथवा, यदि मुझे तुम्हारी ऐसी दशा हो जाने की स्वप्न में भी आशङ्का होती तो मैं जानकी की खोज के लिए प्रयत्न ही न करता और इस युद्ध का नाम ही न लेता।" कैसा अद्भुत भ्रातृप्रेम है! कैसा सौभ्रात्र है!

जिस समय रावण आदि दुष्ट मनुष्यों को युद्ध में मार कर रामचन्द्रजी ने लङ्का को विजय किया उस समय सीता जी को शुद्ध जानते हुए भी, केवल दूसरे लोगों को दिखाने के लिए, उनके विश्वास के लिए, उन्होंने सीताजी के ग्रहण करने में असम्मति दिखलाई। जब सब ऋषि-मुनियों ने साक्षी होकर सीताजी की पवित्रता और शुद्ध पातिव्रत का प्रमाण दिया तब सब लोगों की सम्मति से रामचन्द्रजी ने सीताजी

को ग्रहण किया। इस घटना से यह सिद्ध है कि रामचन्द्रजी कोई काम ऐसा नहीं करना चाहते थे जो समाज के विरुद्ध हो। वे समाज में रहकर उनके नियमों का पालन करना अपना कर्तव्य समझते थे। उद्दण्डता और उच्छृङ्खलता से वे कोसों दूर भागते थे।

जब रामचन्द्रजी लंकाविजय करके सीताजी को साथ ले, पुष्पक विमान पर चढ़ कर अयोध्या को चले तब प्रयाग में पहुँच कर उन्होंने हनुमानजी को पहले से ही भरतजी के पास भेज दिया। बात यह थी कि वे पहले से ही जानना चाहते थे कि देखें चौदह वर्ष तक राज्य करते करते कहीं भरत को राज्य का घमण्ड तो नहीं हो गया। यद्यपि वे भरतजी के स्वभाव को जानते थे तथापि उन्होंने अपनी दूरदर्शिता और नीतिमत्ता दिखाने के लिए हनुमानजी को भेजना उचित ही समझा।

रामचन्द्रजी अच्छे वर्ताव के लिए बहुत ही प्रसिद्ध थे। जिस समय वे सीताजी और लक्ष्मणजी के साथ वनवास को पूरा करके अयोध्या को लौटे उस समय एक वर्ताव बहुत ही विचार का और प्रशंसनीय किया। वह यह कि राजमहल में पहुँच कर वे सब से पहले माता केकयी से मिले। कौशल्या और सुमित्रा को छोड़ कर पहले केकयी से मिल कर रामचन्द्रजी ने बड़ी ही बुद्धिमत्ता, सुविचार और नम्रता का काम किया। यद्यपि रामचन्द्रजी की इतनी नम्रता को देखकर केकयी का सिर मारे लज्जा के नीचे को झुक गया तथापि उनके इस बर्ताव से केकयी को बहुत हर्ष भी हुआ। बात यह कि जिनकी इच्छा से रामचन्द्रजी वन को भेजे गये, वन

से लौटकर सबसे पहले उनको ही आने का समाचार सुनाना उनके लिए बहुत ही उचित था।

रामचन्द्रजी मातृभक्त, पितृभक्त, और भ्रातृस्नेही तो थे ही, परन्तु अपनी प्यारी धर्मपत्नी सीताजी को भी वे हृदय से चाहते थे। वे अपनी सहधर्मिणी का हृदय से मान करते थे। रामचन्द्रजी एकपत्नीव्रत धर्म के पालन करने वाले थे। उन्होंने कभी स्वप्न में भी सीताजी के अतिरिक्त दूसरी स्त्री को कुदृष्टि से नहीं देखा। देखते कैसे? वे तो मातृवत् परदारेषु, के सच्चे उपासक थे। उन्होंने इस उदाहरण को कथन मात्र से ही नहीं, किन्तु प्रत्यक्ष आचरण में करके दिखा दिया।

रामचन्द्रजी 'कीर्तिर्यस्य स जीवति' वाक्य के मूर्तिमान् उदाहरण थे। कीर्ति की रक्षा में वे सदा सचेत रहते थे। संसार में कोई वस्तु ऐसी न थी जो उनको कीर्ति से अधिक प्यारी हो। वे कीर्ति के विना क्षण मात्र भी जीवित रहना पसन्द नहीं करते थे। उसी कीर्ति की रक्षा और अकीर्ति—निन्दा—से बचने के लिए रामचन्द्रजी ने गर्भवती सीता का परित्याग कर दिया। परित्याग भी कैसा? महीने दो महीने या वर्ष दो वर्ष का परित्याग नहीं, जीवन भर के लिए, सदा के लिए।

रामचन्द्रजी बड़े ही प्रजारञ्जक थे। वे कोई काम ऐसा नहीं करना चाहते थे जो प्रजा के प्रतिकूल हो अथवा जिस काम से प्रजा असन्तुष्ट हो। उन्होंने इसी डर से कि रावण के घर में बसी हुई सीता के ग्रहण करने से लोग अप्रसन्न हैं और जहां तहां कुछ लोग हमारे इस काम की निन्दा भी करते हैं, सीताजी का परित्याग करना ही उचित समझा। उन्होंने प्रजारञ्जन के लिए और अपनी कीर्ति की रक्षा के लिए उस

समय सीता-परित्याग ही कर्तव्य समझा। इसलिए उन्होंने अपनी प्रियतमा, राममयजीविता, सती सीता का कुछ भी मोह न करके उनको सदा के लिए वन में भिजवा दिया। इस में सन्देह नहीं कि रामचन्द्रजी का यह कार्य उनकी प्रजा-रञ्जकता और कीर्ति-प्रियता के भाव का बहुत ही प्रबल द्योतक था। इस विषय में जैसा वर्ताव रामचन्द्र जी ने किया वैसा किसी के इतिहास में देखने को नहीं मिलता। अपने मन में सीताजी को निर्दोष जानते हुए भी, केवल साधारण जनों के कहने मात्र से, सीताजी को सदा के लिए त्याग देना रामचन्द्र जी का ही काम था।

यह माना कि रामचन्द्रजी का चरित आदर्श-चरित है और ऐसा चरित है जिसकी तुलना नहीं की जा सकती। तथापि हमारी तुच्छ बुद्धि में, उनकी दो एक जीवन-घटनायें उसी प्रकार खटकती हैं जिस प्रकार गुलाब के फूल में काँटा, या चन्द्रमा में कालिमा।

१—पहली बात तो यह खटकती है कि रामचन्द्रजी ने वृक्ष की ओट में होकर बाली को क्यों मारा? जब उन्होंने प्रत्यक्ष रीति से सुग्रीव को मित्र बना लिया था तब प्रत्यक्ष रीति से मित्र की सहायता करने में क्या आपत्ति थी? क्या सामने युद्ध करने में वे बाली से निर्बल थे? इस बात को भी सत्य मानने के लिए हम तैयार नहीं हो सकते। फिर क्या ऐसा करने से कोई उनके इस काम की निन्दा कर सकता था? नहीं, यह बात भी मानने के योग्य नहीं। तो फिर उन्होंने प्रत्यक्ष युद्ध करके बाली को क्यों नहीं मारा? छिपकर मारने में उन्होंने क्या बहादुरी की? हमारी सम्मति में तो यह काम रामचन्द्रजी के योग्य न था।

जिस समय बाली को यह ज्ञात हुआ कि यह बाण रामचन्द्रजी का है और रामचन्द्रजी उसके सामने आ खड़े हुए उस समय, बाली ने उनके इस काम की बड़ी निन्दा की और उनको ख़ूब फटकारा। उस समय रामचन्द्रजी ने उत्तर में जो कहा वह हमें तो सन्तोषदायक नहीं जँचा।

२—दूसरी बात श्रीसीता-परित्याग की है। यह बात पहली बात से भी कहीं बुरी है। जब उन्होंने सबके सामने लङ्का में, सीताजी को निर्दोष सिद्ध होने पर, ग्रहण कर लिया तब एक धोबी के कहने से, झूठी निन्दा के डर से, पतिव्रता सीता को, सदा के लिए त्याग देना कभी प्रशंसनीय काम नहीं हो सकता। गर्भावस्था में इतनी निर्दयता के साथ वाल्मीकि मुनि के आश्रम में, वन में, सीता का पहुँचवा देना क्या निन्दनीय नहीं? जब वे सीताजी को स्वयं निर्दोष और निष्पाप समझते थे तब अपने अन्तःकरण के विरुद्ध उन्होंने यह काम क्यों किया? रामचन्द्रजी जैसे महात्मा के लिए ऐसी आत्मिक निर्बलता शोभा नहीं देती। रामचन्द्रजी जैसे असाधारण महापुरुष थे, उनका जैसा असाधारण चरित था, सीताजी का परित्याग उनके अनुरूप नहीं हुआ। हमें बड़ा आश्चर्य है कि रामचन्द्रजी के मन्त्रियों और राजगुरु आदि स्वजनों ने उनको इस काम से रोका नहीं और किसी ने भी उनके इस काम की निन्दा नहीं की। रामचन्द्रजी ने अपनी सहधर्मिणी—सीता—का परित्याग करके स्त्री-जाति मात्र का अनादर कर दिया।

अच्छा, उन्होंने एक भूल की तो की, पर भूल पर भूल तो उनको नहीं करनी चाहिए थी। जिस समय महर्षि वाल्मीकि ने सीताजी को उनके यमज पुत्र कुश और लव के

साथ अयोध्या पहुंच कर सभा में सीताजी की पवित्रता के विषय में अपना प्रमाण देकर रामचन्द्रजी से उनके ग्रहण करने के लिए कहा उस समय भी उन्होंने उनको ग्रहण नहीं किया । वे उन्हें ग्रहण करना चाहते तो थे परन्तु कुछ लोगों की असम्मति देखकर उन्होंने उनके ग्रहण करने से इन्कार कर दिया । यदि बहुपक्ष के अनुसार, महर्षि वाल्मीकि के कहने से, वे सीताजी को ग्रहण कर लेते तो भी उनके उस कठोर कर्म का कुछ प्रायश्चित्त हो जाता, तो भी उनके शुद्ध चरित-पट पर आई हुई मलिनता कुछ धुल जाती ।

आलोचना

श्रीरामचन्द्रजी के चरित से एक नहीं अनेक शिक्षायें मिल सकती हैं । पिता की आज्ञा का पालन करना, भाई लक्ष्मण को प्राण से भी अधिक प्रिय समझना, ऋषि-मुनियों की रक्षा के लिए सदा तत्पर रहना, मित्रत्व-धर्म का पालन करना, आपत्काल में धैर्य धारण करके कर्तव्य से विमुख न होना, कीर्ति की रक्षा के लिए प्राणपण से चेष्टा करना, गुरु के कहने पर भी एक स्त्री की विद्यमानता में दूसरा विवाह न करके एक पत्नीव्रत का पालन करना, इत्यादि सैकड़ों शिक्षायें रामचन्द्रजी के चरित से मिलती हैं । जो लोग धार्मिक और सामाजिक नियमों का पालन करते हुए अपना चरित आदर्श बनाना चाहते हैं उन्हें रामचरित को पढ़ समझ कर तदनुकूल आचरण बनाना चाहिए । यदि आजकल के भारत-सपूत रामचरित से कुछ भी शिक्षा ग्रहण करने लगें तो भी भारतीय जन-समाज का बड़ा उपकार हो । बालको, तुमको श्रीरामचरित पढ़कर अवश्य कुछ शिक्षा लेनी चाहिए ।

लक्ष्मणजी

संयमी लक्ष्मणजी सुमित्रा के पुत्र थे। इनके छोटे भाई का नाम शत्रुघ्न था। लक्ष्मणजी ने अपने बड़े भाई रामचन्द्रजी के साथ आचार्यकुल में रहकर सभी विद्यायें पढ़ डालीं। धनुर्वेद में उन्होंने असाधारण योग्यता प्राप्त कर ली। उनकी वीरता सर्वत्र छा गई। लक्ष्मणजी ने विद्या पढ़ चुकने पर अपने ज्येष्ठ भ्राता—रामचन्द्रजी—की सेवा में रत रहना ही अपना परम कर्त्तव्य समझा। यद्यपि रामचन्द्रजी आदि सभी भाई एकत्र रहते, सहते और पढ़ते पढ़ाते थे और परस्पर बड़े ही प्रेम-पूर्वक रहते थे, तथापि लक्ष्मणजी रामचन्द्रजी के साथ बड़े प्रेम से रहते थे। रामचन्द्रजी में उनकी भक्ति ऐसी दृढ़ हो गई कि सदा उनके साथ रहना ही उन्हें अच्छा लगता था। लक्ष्मणजी क्षण मात्र के लिए भी रामचन्द्रजी का वियोग नहीं सह सकते थे।

अपनी अन्य माताओं के प्रति लक्ष्मणजी का ऐसा उत्तम व्यवहार था कि कौशल्या और कैकयी भी उनको अपने पुत्र के समान ही स्नेह करती थीं।

लक्ष्मणजी की स्त्री का नाम उर्मिला था। ये सीताजी की सगी बहिन थीं।

लक्ष्मणजी सदा अदीन रहते थे। उन्होंने कभी किसी के सामने दीन वचन मुँह से नहीं निकाले।

जिस समय केकयी की करतूत से रामचन्द्रजी को चौदह वर्ष वन में बसने की आज्ञा मिली उस समय लक्ष्मणजी इस घटना को न सह सके। उन्होंने अपने भुजदण्डों को उठाकर ऐसे वीर वचन कहे, ऐसी उत्तेजनापूर्ण बातें कहीं जिनको सुनकर सभी दङ्ग रह गये।

लक्ष्मणजी रामचन्द्रजी को अपने पिता के समान पूजनीय और माननीय समझते थे। जिस समय समझाने पर भी रामचन्द्रजी नहीं माने और वन जाने को तयार हो ही गये उस समय भला लक्ष्मणजी पीछे रहने वाले थे? वे भी अपने पूज्य भ्राता के साथ हो लिये। यद्यपि रामचन्द्रजी ने उनको वन न जाने के लिए बहुत समझाया तथापि उन्होंने उनकी एक बात न मानी। वे रामचन्द्रजी की सेवा के लिए तुरन्त कमर कसकर वन को तयार हो गये।

लक्ष्मणजी ने बिना दूसरे की सहायता के सीता-रामचन्द्रजी की वन में जो सेवा की उसके वर्णन करने की शक्ति हमारी इस निर्बल लेखनी में कहाँ। लक्ष्मणजी ने अपनी सेवा से रामचन्द्रजी को प्रसन्न कर लिया। एक सदाचारी सुपुत्र जितनी सेवा अपने माता-पिता की कर सकता है उतनी, नहीं उससे भी अधिक, सेवा लक्ष्मणजी ने सीताजी और रामचन्द्रजी की की। रात रात भर जाग कर रामचन्द्रजी के पैर दाबने और उनकी रक्षा में धनुष पर बाण चढ़ाये, वीरासन लगाये बैठे रहना, रामचन्द्रजी के लिए कुशपत्रों की कोमल शय्या बनाकर प्रस्तुत करना और आप उनके चरणों के समीप धरती पर ही बैठे रहना, प्रातःकाल जल, फूल, फल आदि आवश्यक वस्तुओं को लाकर ठीक समय पर प्रस्तुत करना—

लक्ष्मणजी जैसे भ्रातृभक्त का ही काम था। उन्होंने अपने बड़े भाई की सेवा करने में कभी त्रुटि नहीं होने दी।

जिस समय वन में सीताजी के कहने से मायामृग के पकड़ने के लिए रामचन्द्रजी उसके पीछे पीछे दूर निकल गये उस समय उस मायामृग के मुँह से निकले हुए शब्दों को सुनकर सीताजी घबरा गई थीं। उसी घबराहट में उन्होंने उस शब्द को अपने पति—रामचन्द्रजी—के शब्द समझ कर लक्ष्मणजी के साथ जो बातचीत की थी उसके लिखने की यहाँ आवश्यकता नहीं। सीताजी के मर्मभेदी वाक्यों को सुनकर महाबली लक्ष्मणजी ने उलट कर उनको एक भी बात नहीं कही। वे सीताजी की बड़ी कड़वी बातों को शरबत के से घूँट समझ कर पी गये। उस समय उन्होंने जो धीरता, जो दूरदर्शिता और जो महानुभावता दिखाई वह असाधारण थी।

अपनी प्यारी पत्नी के वियोग में रामचन्द्रजी कई बार बहुत अधीर हो हो गये। पर लक्ष्मणजी ने कभी धैर्य को हाथ से नहीं जाने दिया। उन्होंने अपना धैर्य तो रखा ही, किन्तु रामचन्द्रजी को भी समझा बुझाकर उन्होंने कई बार धैर्य धारण कराया था।

भारी से भारी आपत्ति आने पर भी लक्ष्मणजी को कभी घबराहट नहीं पैदा हुई। वे सदैव आशान्वित और धीर बने रहे। नैराश्य को तो वे जानते ही न थे कि क्या चीज़ है। भय तो उनके पास आता हुआ स्वयं भय खाता था।

लक्ष्मणजी ने बड़ी निर्भयता और शूरता के साथ सीताजी की खोज में सहायता दी और जब लङ्कायुद्ध के लिए रामचन्द्र-जी सुग्रीव की सेना को लेकर चले तब भी लक्ष्मणजी ने बड़ी वीरता से शत्रुओं को मार कर अपने कर्तव्य का पालन किया।

लक्ष्मणजी सच्चे ब्रह्मचारी और जितेन्द्रिय थे। रात दिन श्रीसीताजी के साथ रहने पर भी लक्ष्मणजी ने उनके चरणों के सिवा और किसी अङ्ग के दर्शन नहीं किये। इस बात की सचाई में एक घटना का उल्लेख कर देना बहुत आवश्यक है। सुनिए।

जिस समय सीताजी को खोजते खोजते रामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी सुग्रीव के पास आये उस समय सुग्रीव ने एक वस्त्र में बँधे हुए कुछ आभूषण उनके सामने पहचान के लिए रख दिये। वे आभूषण सीताजी के थे। जिस समय रावण सीताजी को उधर से लिये जा रहा था उस समय उन्होंने पर्वत पर सुग्रीव आदि को बैठा देखकर अपनी पहचान के लिए उन गहनों को एक वस्त्र में बांध कर डाल दिया था। परन्तु जिस समय रामचन्द्रजी ने उन गहनों को सामने रखकर लक्ष्मणजी से पूछा कि देखो भाई, ये गहने जानकी के ही हैं ? उस समय जितेन्द्रिय लक्ष्मणजी ने कहा कि "महाराज मैं इन कुण्डल और कंकड़ों को तो पहचानता नहीं, हां, इन नूपुरों को तो मैं जानता हूँ, ये तो श्रीसीताजी के ही हैं। क्योंकि मैं नित्य उनके चरणों को प्रणाम करते समय इन्हें उनके चरणों में देखा करता था।

"कंकणे नैव जानामि नैव जानामि कुण्डले।
नूपुरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात् ॥"

धन्य! धर्मात्मा लक्ष्मण! तुमको धन्य है। अहा! ऐसा धर्मात्मा देवर आज इस भारत-भूमि पर या कहीं भी मिलना कठिन है। कठिन क्या असम्भव सा ही है।

प्यारे नवयुवक विद्यार्थियो, तुमको लक्ष्मणजी के चरित से भ्रातृ-सेवा और जितेन्द्रियता की शिक्षा अवश्य ग्रहण

करनी चाहिए। देखो, महात्मा लक्ष्मणजी ने १४ वर्ष तक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए अपने बड़े भाई की ऐसी सेवा की जिसकी प्रशंसा हमसे नहीं हो सकती।



भरतजी

भरतजी केकयी के पुत्र थे। ये बड़े धर्म्मिष्ठ थे। वाल्मीकि-रामायण को आदि से अन्त तक पूरा पढ़ जाइए, परन्तु भरतजी के चरित में कहीं किसी प्रकार का भी दोष आपको ढूँढ़े नहीं मिलेगा। उनका चरित बड़ा ही निर्मल और पवित्र है।

रामचन्द्रजी के वनवास के बाद जब वे अपने मामा के यहाँ से अयोध्या आये उस समय राम-वनवास और पिता का स्वर्गवास सुन कर उन्हें अपार दुःख हुआ। भरतजी रामचन्द्रजी को पिता के समान समझते थे। वे बड़े सुशील थे।

माता केकयी और गुरु वशिष्ठ आदि ने बहुतेरा ही समझाया, पर भरतजी ने बड़े भाई के अधिकार पर अपना अधिकार करना सर्वथा अनुचित समझा। उनका राज्य नहीं लिया। वे रामचन्द्रजी को लौटाने के लिए तपस्वियों का वेश धारण करके चित्रकूट पहुँचे। वहाँ जाकर उन्होंने रामचन्द्रजी को लौटाने की बड़ी कोशिश की, पर रामचन्द्रजी ने उनकी बात न मानी। वे रामचन्द्रजी की पादुकाओं (खड़ाऊँ) को सिर पर धारण करके अयोध्या लाये और उन्हीं को राजसिंहासन पर रखकर आप मंत्री के समान राज-काज करने लगे।

भरतजी ने सुशीलता की हद करदी। उन्होंने यह समझ कर कि जब रामचन्द्रजी ही जङ्गल में पृथ्वी पर सोते हैं तब हमें राजसी ठाटों का व्यवहार न करना चाहिए। वे ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए पृथ्वी पर सोते थे। जबतक उन्होंने वनवास पूरा करके आये हुए अपने बड़े भाई रामचन्द्रजी का दर्शन न कर लिया तबतक वे अयोध्या में नहीं घुसे।

अहा! यह कैसा सन्न्यास है; यह कैसा त्याग है! धन्य है महात्मा भरत को जिन्होंने ऐसी उत्तमता से अपने धर्म का पालन किया!

विद्यार्थियो, क्या तुम भी भरतजी के समान भ्रातृप्रेम और धर्मपालन करना सीखोगे? अवश्य तुम्हें भी अपने बड़े भाई को पिता के समान मानना चाहिए।

खेद की बात है कि आज कल बात बात में भाई भाई से लड़ पड़ता है और यहाँ तक मुकद्दमेबाज़ी होती है कि एक दूसरे की जान का प्यासा हो जाता है। क्या भारत के युवक भरतजी के चरित से शिक्षा-ग्रहण न करेंगे?

शत्रुघ्नजी

महारानी सुमित्रा के दो पुत्र थे। एक का नाम लक्ष्मण था और दूसरे का शत्रुघ्न। लक्ष्मणजी बड़े थे। शत्रुघ्नजी छोटे। यों तो ये चारों भाई परस्पर बड़े प्रेम से रहते थे, परन्तु शत्रुघ्नजी भरतजी के साथ वैसे ही प्रसन्न रहते थे जैसे लक्ष्मणजी रामचन्द्रजी के साथ।

जिस समय भरतजो अपने मामा के यहाँ केकय देश को जाने लगे उस समय शत्रुघ्नजो उन्हीं के साथ गये। बात यह कि ये भरतजो के साथ रहने में बड़े प्रसन्न रहते थे।

शत्रुघ्नजी भी बड़े साहसो और वीर थे। इन्होंने भी अपने अन्य भाइयों के समान शस्त्र-विद्या और अस्त्र-विद्या दोनों प्रकार की विद्याओं में पारदर्शिता प्राप्त की। ये विद्वान् भी थे और शूरवीर भी।

जिस समय रामचन्द्रजी ने अश्वमेध यज्ञ किया था उस समय घोड़े की रक्षा के लिए जो सेना गई थो उसके सेनापति शत्रुघ्नजी ही बनाये गये थे। शत्रुघ्नजो ने इस कार्य में बड़ी वीरता से काम लिया। जहाँ जहाँ घोड़ा गया और जिस जिस वीर ने घोड़े को पकड़ा, शत्रुघ्नजी ने उसी से लड़कर घोड़ा छुड़ाया और सब क्षत्रिय-वीरों को परास्त किया।

जहाँ अब मथुरापुरी है पहले यहाँ मधुवन नाम का एक गाँव था। उसमें लवणासुर नामक एक प्रबल दैत्य रहता था वह दैत्य बड़ा दुष्ट था। ऋषि-मुनियों के जप-तप में सदा विघ्न करना ही उसका काम था।

एक बार लवणासुर से तंग आकर कितने ही ऋषि-मुनि श्रीरामचन्द्रजो के पास पहुँचे। वहाँ जाकर उन्होंने उस दैत्य की दुष्टताओं को कह सुनाया। रामचन्द्रजी ने उस दैत्य को मारने के लिए सेना के साथ शत्रुघ्नजो को भेज दिया। शत्रुघ्न-जो बड़े वीर थे। उन्होंने मधुवन में जाकर उस दैत्य के साथ घोर युद्ध किया। अन्त में शत्रुघ्नजो का विजय हुआ। दैत्य मारा गया। शत्रु को विजय करके शत्रुघ्नजी ने उसी स्थान को अपनी राजधानी बना लिया और फिर वे वहीं रहने लगे।

कुछ दिन बाद उस मधुरापुरी को लोग मथुरापुरी के नाम से कहने लगे।

शत्रुघ्नजी के इस कार्य से ऋषिजन बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने शत्रुघ्नजी को बहुत बहुत आशीर्वाद दिये। तब से यहाँ महात्मजन आनन्द-पूर्वक अपने कर्त्तव्य का पालन करने लगे।

राजर्षि जनक के भाई कुशध्वज की द्वितीय पुत्री श्रुत-कीर्त्ति का विवाह शत्रुघ्नजी के साथ हुआ था। श्रुतकीर्त्ति कैसी विदुषी और बुद्धिमती होगी इसका अनुमान उतने से ही हो सकता है कि वह राजर्षि जनक की भतीजी थी और सीताजी की बहन।

शत्रुघ्नजी ने अपनी स्त्री के साथ बहुत दिन तक मथुरा-पुरी में धर्मानुसार राज-काज किया।

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

सीताजी

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

राजर्षि जनक की पुत्री श्रीसीताजी का विवाह मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजी के साथ हुआ था। सीताजी बचपन से ही सरल स्वभाव और धार्मिक विचार की थीं। बात यह कि इनके पिता राजर्षि जनक बड़े धर्मात्मा थे। भला जिन बालकों के मा-बाप धर्मिष्ठ और विद्वान् हों उनके बालक वैसे क्यों न हों। राजा जनक ने अपनी पुत्री सीता को बचपन से ही ऐसी विद्या पढ़ाई, ऐसी शिक्षा दी, ऐसी ऐसी बातें सिखाईं कि जिनके कारण सीताजी का नाम अमर हो गया।

हमारे देश में स्त्री जाति का मुख उज्ज्वल करनेवाली पतिव्रता सीताजी से बढ़ कर और कोई स्त्री नहीं हुई। सती नारियों में सीताजी का नाम सबसे पहले लिया जाता है।

जिस समय श्रीरामचन्द्रजी को वनवास की आज्ञा हुई उस समय सीताजी ने अपने कर्तव्य को कैसी उत्तमता से निबाहा। १४ वर्ष के लिए पति की सेवा करने के भाव से राजपाट के सुखों को छोड़ कर वन को जाना सहज काम नहीं है। पर जो स्त्रियाँ पतिव्रता हैं, जो अपने धर्मकर्म को जानती हैं उनके लिए यह काम कुछ भी कठिन नहीं। क्योंकि वे जानती हैं कि पतिव्रता नारी का कर्तव्य यही है कि जैसे बने वैसे और जहाँ रहकर बने वहीं रहकर, पतिदेव की सेवा करना चाहिए। सीताजी अपने धर्म को जानती थीं। इसी लिए वे हज़ार समझाने पर भी अयोध्या में न रहीं और पति के साथ वन को चली ही गईं।

जिस समय सीताजी पति-देव और देवोपम देवर के साथ वन में भ्रमण कर रही थीं उस समय, एक दिन, वे तीनों अत्रि मुनि के आश्रम में जा पहुँचे। वहाँ अत्रिमुनि की स्त्री अनसूयाजी ने सीताजी को पातिव्रत धर्म का जो उपदेश दिया, स्त्रियों के कर्तव्य के विषय में जो शिक्षा दी, वह बड़े महत्त्व की थी। उन्होंने कहा था कि जो स्त्री अपने सुख के लिए पतिदेव को पूजा नहीं करती, अपने स्वामी की सह-धर्मिणी नहीं बनती, और अपने कर्तव्य का पालन नहीं करती वह स्त्री स्त्री नहीं, राक्षसी है।

सीताजी अपने धर्म के पालन में बड़ी दृढ़ थीं। रावण के हज़ार कहने से भी उन्होंने अपने धर्म को नहीं छोड़ा। राक्षसराज रावण ने सीताजी के बहकाने का कितना ही

उद्योग किया, कितनी ही माया रची, पर धन्य है सती सीताजी को ! जिन्होंने मायावी राक्षस को एक माया न चलने दी।

राक्षस रावण को मार कर जब रामचन्द्रजी सीताजी को साथ लेकर अयोध्या चले तब कुछ दिन बाद, एक धोबी के कहने से ही, उन्होंने सदाचारिणी सती सीताजी को सदा के लिए त्याग दिया। जिस समय रामचन्द्रजी की आज्ञा से लक्ष्मणजी सीताजी को वन में छोड़ने गये थे उस समय वे गर्भवती थीं। बहुत थोड़े दिन बाद उनके सन्तान होने वाली थी। पर ऐसी दशा में भी, पतिदेव से सदा के लिए त्यागी जाने पर भी, सीताजी ने क्रोध नहीं किया। उन्होंने एक भी बुरी बात मुँह से नहीं निकाली। बात क्या, उन्होंने मन में भी दुर्भाव नहीं पैदा किया। उनकी भक्ति पतिदेव के चरणों में वैसी ही रही जैसी पहले थी। और कोई साधारण स्त्री होती तो निरपराध निकालने के अपराध में अपने आराध्य देव को सैकड़ों सुनाती। पर सीताजी साधारण स्त्री तो थीं ही नहीं जो ऐसा करतीं, वे तो धर्म के मर्म को समझती थीं। इसीलिए उन्होंने ऐसे कठिन समय में भी, ऐसी घोर आपत्ति पड़ने पर भी, अपने स्वामी के विषय में तनिक भी मन मैला नहीं किया।

जिस समय सीताजी को निर्जन वन में छोड़ कर लक्ष्मणजी अयोध्या को चलने लगे उस समय सीताजी ने अपनी जो धीरता दिखाई, जो बात कही, वह संसार की सभी स्त्रियों को ध्यान से सुनने योग्य है। उन्होंने कहा—"वत्स लक्ष्मण ! तुम अपने बड़े भाई से जाकर मेरा प्रणाम कहना और मेरी ओर से यह भी निवेदन करना कि मुझे जो आपने अपनी कीर्ति-रक्षा के लिए, ऐसी दशा में त्याग दिया है, इसके लिए

मैं दुःखी नहीं, प्रसन्न हूँ। ईश्वर आपकी कीर्ति को अमर करे। मुझे उसी में आनन्द है जिसमें आप प्रसन्न रहें। मेरी और आपकी यह पृथक्ता दिखावटी है। असली नहीं। क्योंकि आप मुझको अपने हृदय से नहीं निकाल सकते और आप मेरे हृदय से अलग नहीं हो सकते।"

सीताजी राजनीति के तत्व को भी खूब समझती थीं। जिस समय महावीर हनुमान् सीता के खोजने के लिए लङ्का में गये और लङ्कादहन कर चुकने पर उन्होंने सीताजी से कहा कि आप चाहें तो मेरी पीठ पर सवार हो लीजिए। मैं तुरन्त श्रीरामचन्द्रजी के पास पहुँचा दूँ। परन्तु सीताजी ने यह बात पसन्द न की। हनुमान्‌जी की पीठ पर चढ़ कर जाना उन्होंने अच्छा नहीं समझा। यह क्यों? इस लिए कि वे राजनीति के तत्त्व को समझती थीं। ऐसा करने में उन्होंने कई बातों का विचार किया होगा। पहली बात तो यही है कि वे पतिव्रता थीं। पर-पुरुष के शरीर का स्पर्श करने से उनके व्रत में भङ्ग पड़ जाता। दूसरे ऐसा करने से उनके पतिदेव का निन्दा भी होती। सब लोग यही कहते कि देखो, रामचन्द्रजी से अपनी स्त्री भी नहीं छुड़ाई गई। हनुमान् न लाते तो वे स्त्री को कभी न पा सकते। तीसरे, उनको यह भी डर हो सकता है कि कहीं हनुमान् मुझे रामचन्द्रजी के पास न पहुँचा सकें और मैं फिर किसी दूसरी आपत्ति में फँस जाऊँ। चौथे उनको यह भी सन्देह था कि कहीं यह समाचार रावण को न मालूम हो जाय और वह रास्ते में ही मेरे लेने के लिए आवे और युद्ध करने लगे तो फिर बड़ी कठिनता होगी। उस समय हनुमान्‌जी मेरी रक्षा करेंगे या उस दुष्ट से युद्ध करेंगे। इसी तरह और भी अनेक शङ्कायें उनके जी

में पैदा हो गई होंगी। सीताजी ने हनुमान्जी की पीठ पर चढ़ कर न जाने में बड़ी बुद्धिमत्ता, दूरदर्शिता और राज-नीतिज्ञता का काम किया।

हम उनके इस काम की बड़ी प्रशंसा करेंगे। और कोई साधारण स्त्री होती तो इस मामले में इतना सूक्ष्म विचार न करके हनुमान्जी के कहने में आ जाती। ऐसी घोर विपत्ति में भी, दुष्ट शत्रु के पञ्जे में फँसे रहने पर भी, सीताजी ने अपने विवेक और बुद्धि को हाथ से नहीं जाने दिया।

सीताजी को बचपन से ही ऐसी शिक्षा दी गई थी कि जिसके कारण सीताजी की सच्चरित्रता की इतनी प्रतिष्ठा हुई। वे सबके साथ यथोचित बर्ताव किया करती थीं। उनके किसी कुटुम्बी को कभी किसी बात में भी उनके बर्ताव की निन्दा करने का अवसर नहीं मिला।

सीताजी में जैसे अच्छे गुण थे वैसे ही गुण उनकी और बहनों में भी थे। सीताजी की सगी छोटी बहन उर्मिला लक्ष्मणजी की स्त्री थी। वह भी बड़ी शान्त स्वभाव की थी। हमारे विचार में तो लक्ष्मणजी का जैसा तीक्ष्ण स्वभाव था वैसातीक्ष्ण स्वभाव उनकी स्त्री—उर्मिला—का नहीं था। यदि उर्मिला का स्वभाव सरल और शान्त न होता तो राम-वनवास के समय जब उसके पति—लक्ष्मणजी—भी उनके साथ जाने को तयार हो गये तब वह भी सीताजी की तरह वन जाने के लिए हठ करती। पर उसने ऐसा नहीं किया। यह उसने बड़ी ही दूरदर्शिता का काम किया। उस समय उर्मिला का चुप लगा जाना बड़ा ही बुद्धिमत्ता का काम हुआ।

कोई यहाँ पर यह कह सकता है कि नहीं, उर्मिला ने उस समय अपने पति के साथ वन जाने को अवश्य हठ किया

होगा। परन्तु लक्ष्मणजी ने उसको समझा दिया होगा। क्योंकि यदि लक्ष्मणजी भी अपनी स्त्री को अपने साथ ले जाते तो उस दशा में अपने बड़े भाई की वैसी सेवा नहीं कर पाते जैसी उन्होंने अकेले जाकर की। हो सकता है कि उर्मिला ने भी उस समय सीताजी की तरह अपने पति से वन जाने के लिए हठ किया हो। और जिस समय लक्ष्मणजी ने उनको समझाया होगा उस समय वे समझ कर चुप रह गई होंगी। यह भी बहुत सम्भव है कि उसको उसकी सास सुमित्रा ने पहले से ही समझा बुझाकर शान्त कर दिया हो। बहुत करके यही सम्भव प्रतीत होता है कि उसने विशेष हठ न किया होगा। यदि वह हठ करती तो आदिकवि वाल्मीकि अपने रामायण-काव्य में उर्मिला के संवाद का अवश्य कुछ न कुछ उल्लेख करते। पर उन्होंने ऐसा नहीं किया। इस विषय में महाकवि का चुप लगा जाना इस बात को सिद्ध करता है कि उर्मिला ने उस समय चुप लगा जाने के सिवा और कुछ नहीं किया।

वनवास के समय उर्मिला का चुप लगा जाना या कवि के द्वारा उसका उल्लेख न होना एक बड़े महत्त्व को बात हो गई। यद्यपि उस समय उर्मिला के विषय में कोई घटना नहीं घटी पर तो भी वह अघटना ही उसके चरित के महत्त्व को बढ़ा रही है। हम उर्मिला के चरित को बहुत अच्छा समझते हैं।

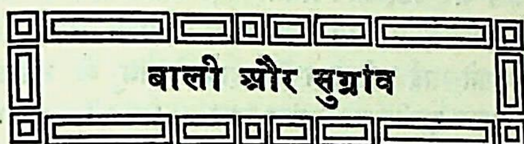
सीताजी की दो बहनें और थीं। वे सगी नहीं, उनके चचा की लड़की थीं। एक का नाम माण्डवी था, जो भरतजी को व्याही थी। और दूसरी श्रुतकीर्ति थी जो शत्रुघ्न को व्याही थी। ये दोनों वहन भी सीताजी की तरह बड़ी बुद्धिमती, सुशीला और पतिव्रता थीं। उनमें अनेक उत्तम गुण थे।

इसमें सन्देह नहीं कि सीताजी अनेक सद्‌गुणों की खान थीं। पर उनके चरित में एक आध घटना ऐसी हो गई है कि जिसके कारण हम सीताजी के स्वभाव को चंचल कहे बिना नहीं रह सकते। सीताजी की यह चञ्चलता विवेक और विचार से रहित थी। इसके प्रमाण में एक घटना का उल्लेख करना पर्याप्त होगा। सुनिए।

जिस समय रावण के बहकाने से मारीच ने मायामृग का रूप धारण कर सीताजी की चित्तवृत्ति को मोहित करने की कुटिल चाल चली उस समय सीताजी ने अपने स्वभाव की चञ्चलता का प्रत्यक्ष परिचय दे दिया। उन्होंने मायामृग की अलौकिक सुन्दरता पर कुछ भी विचार न करके उसके पकड़ने के लिए अपने पति से इतना आग्रह किया कि जितना उन्होंने कभी किसी काम के लिए नहीं किया। उस आग्रह का फल भी उन्हें तुरन्त मिल गया।

इसके सिवा और एक बात हमें सीताजी के चरित में खटकती है। वह यह कि जिस समय रामचन्द्रजी के हाथ से मारीच मारा गया उस समय उस मायावी ने रामचन्द्रजी की बोली में "हा सीते! हा लक्ष्मण!" ऐसे ज़ोर से पुकारा जिसे सीताजी ने सुन लिया। इतना सुनते ही सीताजी घबरा उठीं। यद्यपि लक्ष्मणजी ने उनकी चिन्ता दूर करने के लिए बहुत कुछ समझाया, परन्तु सीताजी ने उनकी एक न मानी। लक्ष्मणजी के समझाने पर वे और आपे से बाहर हो गईं। उस समय उन्होंने अपने विचार-विवेक से हाथ धोकर अपने देव-तुल्य देवर को ऐसी बेतुकी बातें सुनाईं, इतनी कहनी बिन-कहनी कहीं, जिनको सुनकर महावीर लक्ष्मण का ही ऐसा कड़ा कलेजा था जो न फटा। और कोई साधारण

मनुष्य होता तो भाभी के मुँह से निकले वाग्वज्रों को कभी सहन न करता। महावीर लक्ष्मण जैसे संयमी ब्रह्मचारी के विषय में सीताजी ने अपने मन में ऐसे ऐसे कुविचार पैदा कर लिये जिसे सुन कर कोई भी विचारशील सीताजी के इस विचार की प्रशंसा नहीं कर सकता।



बाली और सुग्रीव दोनों सगे भाई थे। दोनों बड़े बली थे। वे आपस में बड़े प्रेम से रहते थे। आयु में बड़ा होने से किष्किन्धा का राज्य बाली को मिला। वही वहाँ की राजगद्दी पर बैठा। बाली सुग्रीव से अधिक बलवान् था। गदायुद्ध की विद्या में दोनों बड़े निपुण थे।

बाली की स्त्री का नाम तारा था। तारा बड़ी चतुर और नीति की जानने वाली थी। उसकी बुद्धि बड़ी तेज़ थी। सुग्रीव की स्त्री—रुमा—भी बड़ी समझदार थी।

अपने भाई और सुयोग्य मन्त्रियों की सहायता से बाली किष्किन्धा पुरी को राजधानी बना कर बड़ी उत्तमता से राजकाज करने लगा।

कुछ दिन बाद एक ऐसी घटना हुई जिसके कारण दोनों भाइयों में प्रेम-प्रीति के बदले भारी वैर-विरोध का बीज बोया गया। उस घटना को सुनिए।

मय नामक दैत्य का एक पुत्र था। उसका नाम था मायावी। वह बड़ा बली था। नहीं मालूम कैसे उसकी बाली से अनबन हो गई। वह एक बार आधी रात के समय बाली से लड़ने के लिए किष्किन्धापुरी के द्वार पर आकर ललकारने लगा। बाली महाबली था। वह शत्रु की ललकार को सुन कर कब चुपचाप बैठा रह सकता था। वह भी उसी समय कमर कस कर उठा और अपनी गदा लेकर द्वार पर पहुँचा। बाली को देखते ही मायावी भागा। बाली उसके पीछे हो लिया। अपने भाई को रात में महाबली शत्रु के साथ लड़ने जाता देखकर सुग्रीव से न रहा गया। वह भी उसकी सहायता के लिए उसके पीछे पीछे चल दिया।

मायावी दैत्य के भागने का कारण यह था कि वह एक भारी गुफा में जाकर बाली से लड़ना चाहता था। इसी लिए वह भागा हुआ अपनी गहरी गुफा में जा घुसा। दैत्य को गुफा में घुस जाने पर बाली ने सुग्रीव से कहा कि देखो, "मैं भीतर जाकर दुष्ट दैत्य को मारूँगा। तुम १५ दिन तक यहीं इसी गुफा के द्वार पर बैठे रहो। जब मुझे भीतर १५ दिन पूरे हो जायँ तब तुम मुझको मरा हुआ समझ लेना और यहाँ से राजधानी लौट जाना।" सुग्रीव ने वैसा ही किया। बाली भीतर जाकर दैत्य से लड़ने लगा। सुग्रीव द्वार पर बैठ कर भाई के आने की प्रतीक्षा करने लगा। एक एक करके १५ दिन बीत गये। पर बाली नहीं लौटा। सुग्रीव बाली को बहुत चाहता था। वह १५ दिन बीतने पर भी वहाँ से न हटा। जब दूसरे १५ दिन भी पूरे हो गये, अर्थात् एक महीना हो गया तब उस गुफा के द्वार से ख़ून की धारा बहती हुई दिखाई दी। उसे देखकर सुग्रीव को बड़ा दुःख हुआ। उसको

निश्चय हो गया कि वाली मारा गया। उसने यह सोचकर कि कहीं यह दैत्य इस गुफा में से निकल कर पीछे मुझे भी न मार दे, उसके द्वार को एक भारी शिला से बन्द कर दिया। इतना करके सुग्रीव किष्किन्धा पुरी को चला गया।

सुग्रीव ने घर आकर वाली के मारे जाने का समाचार किसीसे न कहा। पर भीतरी शोक क्या दवाने से दब सकता है? सुग्रीव के उदास चेहरे को देखते ही चतुर मन्त्रियों ने असली बात समझ ली। वाली के मारे जाने का सबको निश्चय हो गया। मन्त्रियों ने सुग्रीव को राजा बनाने के लिए बहुत कहा। पर सुग्रीव बड़ा धर्मात्मा था। उसने कहा "बड़े भाई की राजगद्दी पर मैं बैठ नहीं सकता। गद्दी का अधिकार वाली के पुत्र अङ्गद को है। वही राज्य का उत्तराधिकारी है। इसलिए मैं गद्दी पर नहीं बैठ सकता।"

उस समय अङ्गद बालक था। बालक होने से वह गद्दी पर नहीं बैठ सकता था। इसलिए मन्त्रियों के बहुत कुछ कहने सुनने से, बड़े आग्रह से, सुग्रीव राजकाज करने लगा।

इधर तो यह हुआ। अब उधर का हाल सुनिए। वाली मारा नहीं गया था। वह रुधिर की धारा, जो गुफा के द्वार पर बही थी, वाली के शरीर को रुधिर-धारा न थी। वह उसी दुष्ट दैत्य के पापी शरीर की रक्तधारा थी। दैत्य को मार कर जब वाली गुफा के द्वार पर आया तब देखा, द्वार पर भारी शिला रक्खी हुई है। द्वार बन्द देखकर उसको बड़ा क्रोध आया। बली तो वह था ही। उसने ज़ोर से ऐसी लात मारी कि वह शिला टूट कर दूर जा पड़ी। द्वार खुल गया। वाली ने मन में समझ लिया कि सुग्रीव के मन में छल है। वह मुझको मार, स्वयं राज्य करना चाहता है। ऐसा न

होता तो वह द्वार बन्द करके क्यों चला जाता। बाली को यह भी निश्चय हो गया कि सुग्रीव १५ दिन पूरे होने से पहले ही यहाँ से चला गया।

किष्किन्धा में जाकर जब बाली ने सुग्रीव को गद्दी पर बैठे देखा तब तो उसका सन्देह और भी पक्का होगया।

बाली को आता देखकर सुग्रीव को बड़ा आनन्द हुआ। उसके मन में किसी तरह का छल न था। वह भाई को आता देखकर गद्दी से नीचे उतर कर उसके चरणों में गिर पड़ा। सुग्रीव ने सारा समाचार सच्चा सच्चा सुना दिया, पर बाली क्रोध में इतना उन्मत्त हो गया था कि उसने सुग्रीव की एक न सुनी। मन्त्रियों ने भी बाली को बहुत समझाया, पर वह किसकी सुनने लगा।

बाली ने सुग्रीव की स्त्री—रुमा—को अपने अधिकार में कर लिया। इतना करके भी उसके जी में ठंडक नहीं पड़ी। वह सुग्रीव को मारने के लिए दौड़ा। क्रोध में भरे हुए बाली को आता देखकर सुग्रीव वहाँ से भाग निकला। हनुमान, नल, नील, तार ये चार मन्त्री बड़े धार्मिक थे। सुग्रीव को भागा देखकर वे भी उसकी सहायता के लिए उसके पीछे पीछे हो लिये।

अब आगे आगे सुग्रीव, उसके साथ चारों मन्त्री और पीछे पीछे गदा लिये हुए बाली दौड़ने लगा।

जब सुग्रीव को कहीं शरण न मिली तब अपनी रक्षा के लिए वह अपने चारों मन्त्रियों के साथ ऋष्यमूक पर्वत के एक सुरक्षित शिखर पर रहने लगा।

वहीं पर सीताजी को खोजते हुए श्रीरामलक्ष्मण से हनुमान्‌जी को पहले पहल भेंट हुई थी। हनुमान्‌जी ने

रामचन्द्रजी के साथ सुग्रीव की मित्रता करादी। सुग्रीव ने सीताजी की खोज कराने की प्रतिज्ञा की और रामचन्द्रजी ने बाली को मार कर किष्किन्धा का राज्य सुग्रीव को दिलाने की प्रतिज्ञा की। रामचन्द्रजी ने वाली को मार कर सुग्रीव को उसकी स्त्री दिला दी। सुग्रीव को ही वहाँ का राजा बना दिया और अंगद को युवराज। सुग्रीव ने भी अपने मित्र-धर्म को ख़ूब निबाहा।

बाली बड़ा क्रोधी और कमसमझ था। उसने जल्दबाज़ी में आकर, अपने भाई का विश्वास न करके, उसकी स्त्री को ले लिया। यह बड़ा भारी पाप किया। यह इसी पाप का फल उसको मिला। बाली ने जैसा किया वैसा उसने फल पाया। सुग्रीव को उसकी सचाई का फल मिला।

यह माना कि बाली ने बहुत बुरा काम किया था। पर सुग्रीव को वैर का बदला चुकाने के लिए अपना भाई नहीं मरवाना चाहिए था। हम सुग्रीव के इस काम की प्रशंसा नहीं कर सकते। श्रीराम, लक्ष्मण और भरत के बर्ताव को सामने देखकर भी सुग्रीव को इतना ज्ञान न हुआ। हज़ार बात होने पर भी भाई भाई में कभी इतना वैर भाव नहीं होना चाहिए। इसमें खाली सुग्रीव का ही अपराध नहीं, बाली का भी बड़ा भारी अपराध था। उसको क्रोध में इतना अन्धा नहीं होना चाहिए था। यदि बाली इतना आपे से बाहर न होता तो सुग्रीव भी कभी अपने बड़े भाई के साथ ऐसा बुरा बर्ताव न करता। सारांश यह कि दोनों भाइयों ने भूल की।

हनुमानजी

रामायण के पात्रों में हनुमानजी का नाम बड़ी श्रद्धा से लिया जाता है। रामायण में "उत्तर" को मिलाकर सब सात काण्ड हैं। और सब काण्डों में जिस जिसका वर्णन विशेष रूप से किया गया है उसी उसके नाम पर काण्ड का नाम रक्खा गया है। एक 'सुन्दर' काण्ड ही ऐसा काण्ड है जिसका नाम किसी घटना या व्यक्ति विशेष के कारण नहीं रक्खा गया। उसका 'सुन्दर' नाम इसी कारण रक्खा गया है कि उस में जो चरित, जो लीला वर्णित की गई है वह बड़ी सुन्दर है। इस काण्ड में हनुमानजी की लीलाओं का विस्तार-पूर्वक वर्णन लिखा गया है। वास्तव में हनुमानजी ने जो जो कार्य किये वे बड़े ही सुन्दर हैं।

हनुमानजी की माता का नाम अञ्जनी था और पिता का केशरी। हनुमानजी के गुरु सूर्य थे। इन्होंने सूर्य से ही व्याकरण आदि विद्यायें पढ़ी थीं। हनुमानजी बड़े मितभाषी, बुद्धिमान्, दूरदर्शी, स्वामिभक्त, पराक्रमी और बलवान् थे।

किष्किन्धापुरी के राजा सुग्रीव के प्रधान मन्त्री हनुमानजी ही थे। राजकाज में सलाह देने के काम में ये बड़े चतुर थे। ये न्यायप्रिय भी बड़े थे। जिस समय बाली अधर्म और अन्याय से सुग्रीव की स्त्री को लेकर सुग्रीव के मारने को तयार हो गया उस समय हनुमानजी ने किष्किन्धा में रहना उचित

न समझा। वे तुरन्त सुग्रीव की सहायता के लिए उसके साथ चल दिये।

हनुमानजी ने भारी विपत्काल में भी अपने स्वामी सुग्रीव का साथ न छोड़ा। वे सदा सुग्रीव के साथ ही रहे। जिस समय श्रीरामलक्ष्मण सीताजी की खोज में फिर रहे थे उस समय हनुमानजी सुग्रीव के साथ ऋष्यमूक पर्वत पर रहते थे। जब श्रीराम-लक्ष्मण वहाँ पहुँचे तब दूर से ही उन्हें देखकर सुग्रीव ने हनुमानजी को उनसे मिलने के लिए भेजा था। उस समय हनुमानजी दोनों भाइयों का परिचय प्राप्त करने के लिए ब्राह्मण का वेष बना कर गये थे। श्रीरामलक्ष्मण से मिल कर उन्होंने जो बातचीत की उसको सुनकर रामचन्द्रजी बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने हनुमानजी के शुद्ध भाषण की बड़ी प्रशंसा की। हनुमानजी के थोड़े ही भाषण से रामचन्द्रजी ने उनकी विद्वत्ता, बुद्धिमत्ता, नीतिज्ञता और स्वामिभक्ति का पूरा परिचय प्राप्त कर लिया। हनुमानजी का ही काम था जो रामचन्द्रजी के साथ सुग्रीव की मित्रता करा दी।

जिस समय सीताजी की खोज करने के लिए सुग्रीव ने चारों दिशाओं में अनेक दूत भेजे उस समय दक्षिण दिशा को जानेवालों में हनुमानजी, अङ्गद, जाम्बवान् आदि अनेक बुद्धिमान् और बलवान् दूत थे। उस समय रामचन्द्रजी ने भी हनुमानजी को ही सबमें बुद्धिमान् समझ कर अपना चिह्न-रूप अँगूठी उनको दी थी। रामचन्द्रजी को विश्वास था कि यदि कोई चतुर और कार्यसाधक है तो हनुमानजी ही हैं।

हनुमानजी में एक बात थी। वे अपनी शक्ति और अपने बल को भूले से रहते थे। किसी के उत्तेजित करने पर उनको

अपना बल याद आता था। बात यह कि वे बड़े नम्र थे। अभिमान तो उनको छू तक न गया था।

समुद्र के किनारे पहुँच जाने पर यदि नीतिज्ञ जाम्बवान् हनुमान्जी को अपने भाषण से उत्तेजित न करते तो हनुमान-जी कभी समुद्र पार जाने और सीताजी की खोज करने को तयार न होते। यह जाम्बवान् की जोशीली वक्तृता का ही प्रभाव था कि सुनते ही हनुमान्जी की भुजायें फड़कने लगीं। उत्साह से सारा शरीर भर गया, नस नस में जागृति का सञ्चार हो गया।

लङ्का में जाकर हनुमानजी ने जिस नीति और बुद्धिमत्ता से काम किया वह सहस्रमुख से प्रशंसा करने के योग्य है। अनजानी और अनदेखी जगह में शत्रु की सारी बातों का भेद लेकर अपना काम वना लेना सहज काम नहीं। लंका में जाकर हनुमानजी ने सीताजी की खोज वड़ी सावधानी से की। हनुमानजी वड़े उद्योगी और विचारशील थे। वे कभी निराश न होते थे।

एक बार सीताजी को खोजते खोजते वे मन्दोदरी के महल में चले गये। रात का समय था। चाँदनी रात थी। वहाँ पर रावण को सोते देखा। उसके पास ही मन्दोदरी को देखकर हनुमानजी के होश उड़ गये। उन्होंने उसे सीताजी समझा। बात यह कि मन्दोदरी भी बड़ी सुन्दरी थी। वह रावण की प्रधान स्त्री थी। जो लक्षण सीताजी में रामचन्द्रजी ने वताये थे उनमें से प्रायः बहुत से लक्षण मन्दोदरी में मिलते थे। उस समय हनुमानजी ने अपने मन में तरह तरह की शंकायें कीं। उनके मनमें नाना प्रकार की भावनायें उत्पन्न होने लगीं। वहुत कुछ सोच विचार के पश्चात् उन्होंने अपने मनमें

निश्चय किया कि ये सीताजी नहीं । जनकदुलारी, दशरथ-पतोहू और रामचन्द्रजी को भार्या ऐसो नहीं हो सकती कि जो दुष्ट रावण की अधीनता स्वीकार करले।

सीताजी से मिल कर हनुमानजी ने बड़ी सावधानी और चतुरता से बातें कीं । बातचीत करने से पहले उन्होंने पेड़ पर छिपे ही छिपे रामचन्द्रजी के वंश का वर्णन किया, जिसे सुनकर सीताजी को अपार हर्ष हुआ। फिर उन्होंने विश्वास पैदा करने के लिए रामचन्द्रजी की दी हुई अँगूठी सीताजी को समर्पित करदी।

उस समय हनुमानजी की बातों में सीताजी को भी शुरू में कुछ सन्देह हुआ और अँगूठी को पाकर भी उनके मन में अनेक बातों की कल्पनायें उठीं, पर हनुमानजी ने ऐसी बुद्धि-मत्ता से बात कीं कि सीताजी की सारी शंकायें दूर हो गईं।

उस समय रामचन्द्रजी का कुशल-समाचार सुनकर सीताजी ने कहा कि हनुमन्, इस समय मेरे पास ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसे देकर मैं तुम्हारे इस उपकार का कुछ भी बदला चुका सकूं। मैं तुम्हारे इस उपकार के लिए ऋणी हूँ।

सीताजी से मिलकर और बातचीत करके भी उन्होंने चुपचाप वहाँ से जाना अच्छा न समझा । उन्होंने सीताजी की आज्ञा से, उस अशोकवाटिका का विध्वंस करना शुरू किया। ऐसा करने में कई कारण थे । एक तो सीताजी को जीती जागती देख और बातचीत करके आनन्द के मारे हनुमानजी का शरीर फूला नहीं समाता था। दूसरे वे शत्रु के बल का परिचय प्राप्त करके जाना चाहते थे।

वाटिका के विध्वंस करने पर राक्षस लोग रावण के पास गये। रावण ने हनुमानजी को मामूली आदमी समझ कर

उनके पकड़ने के लिए कई बार बड़े बड़े वीर भेजे। पर हनु-मानजी ऐसे वैसे थोड़े ही थे, जो उनको धमकी में आ जाते। उन्होंने भी बड़ी वीरता से शत्रुओं का सामना किया। अन्त में बहुत से राक्षसों को मार कर हनुमानजी रावण का दरबार देखने की इच्छा से मेघनाद के हाथों बँध गये। अपने स्वामी के कार्य सिद्ध करने के लिए उन्होंने अपने को शत्रु के हाथ बँध जाना भी अच्छा समझा।

रावण के दरबार में पहुँच कर भी, राक्षसों के बार बार डराने धमकाने पर भी, हनुमानजी ने एक बात भी अधीनता या दीनता की नहीं की। उनके मुँह से बराबर निर्भयता और वीरता से भरे हुए वचन निकलते रहे।

इस प्रकार सीताजी की खोज करके, लङ्का को जला कर, शत्रु के मनमें डर पैदा करके, हनुमानजी वापस लौट आये।

जिस समय सीताजी का समाचार लेकर हनुमानजी राम-चन्द्रजी के पास पहुँचे उस समय उन्होंने संक्षेप और बुद्धिमत्ता से दो शब्दों में समाचार का सार कह सुनाया। वे दो शब्द "देखी सीता" थे। हनुमानजी को बातचीत करने और शब्दों के प्रभावों के समझने का कैसा अच्छा ज्ञान था। उन्होंने 'सीता देखी' न कह कर 'देखी सीता' कहा। यह इसलिए कि कहीं रामचन्द्रजी पहले सीता शब्द को सुन कर आगे दूसरा शब्द मुँह से निकलने तक कुछ और अनिष्ट शब्द की कल्पना न कर लें। 'सीता' शब्द के बाद अनेक शब्दों की कल्पना की जा सकती है। जैसे—सीता देखी, सीता नहीं देखी, सीता नहीं मिली, सीता मर गई, सीता का पता नहीं इत्यादि। इन्हीं सब आशङ्काओं को मिटाने के लिए बुद्धिमान् हनुमानजी ने 'देखी सीता' कहा था। 'देखी' शब्द को सुन

कर फिर किसी अनिष्टार्थक शब्द की कल्पना नहीं की जा सकती।

सीताजी का कुशल-समाचार और हनुमानजी की वाक्-चातुरी सुनकर रामचन्द्रजी को अपार हर्ष हुआ। उस समय उनके पास कोई ऐसी वस्तु न थी जिसे देकर वे हनुमानजी को प्रसन्न करते। इसलिए उन्होंने उठकर हनुमानजी को दोनों भुजा पसार कर आलिङ्गन किया और कहा कि हनुमन्, मैं तुम्हारे इस उपकार का सदा ऋणी रहूँगा।

हनुमानजी दूत-कार्य में बड़े ही निपुण थे। जिस समय मेघनाद ने लक्ष्मणजी को मूर्च्छित कर दिया था उस समय हनुमानजी ही वैद्य को बुला कर लाये और उसकी बताई ओषधि भी बड़ी दूर से लाकर दी।

लङ्का विजय करके जब रामचन्द्रजी सीताजी को साथ लेकर पुष्पक विमान पर चढ़ कर अयोध्या को लौट रहे थे उस समय प्रयाग के समीप आकर उन्होंने भरतजी के पास समाचार ले जाने का काम भी हनुमानजी को ही सौंपा। बात यह है कि हनुमानजी में पुरुष-परीक्षा करने की शक्ति थी। हनुमानजी ने भरतजी के पास जाकर बड़ी उत्तम रीति से रामचन्द्रजी के आने का समाचार कह सुनाया।

हनुमानजी बड़े स्वामिभक्त थे। राजा सुग्रीव, रामचन्द्रजी और सीताजी ये तीनों ही हनुमानजी की सेवा से बड़े प्रसन्न हुए। सच पूछिए तो हनुमानजी ने जो सेवा इन तीनों की की उससे ये उऋण नहीं हो सके।

अयोध्या में पहुँच कर जब रामचन्द्रजी राजगद्दी पर बैठे तब राजतिलकोत्सव के उपलक्ष में सबको पारितोषिक बाँटा गया। सुग्रीव, अङ्गद, विभीषण आदि सभी को कुछ न कुछ

पारितोषिक मिला। उस समय एक बहुमूल्य रत्नजटित हार सीताजी के हाथ में देकर रामचन्द्रजी ने कहा कि जिस पर तुम बहुत प्रसन्न हो उसीको यह पारितोषिक दे दो। उस समय सीताजी ने वह हार अपने हाथों से हनुमानजी के गले में पहना दिया। उस हार को पहन कर, भरी सभा में इतना आदर पाकर, हनुमानजी को बड़ी प्रसन्नता हुई।

हनुमानजी में सब से बड़ी बात यह थी कि वे जितेन्द्रिय थे, कामदेव को उन्होंने जीत लिया था। वे सदा ब्रह्मचारी ही रहे। उन्होंने विवाह का नाम तक नहीं लिया। उन्होंने अपने नैष्ठिक ब्रह्मचर्य को अन्त तक बड़ी उत्तम रीति से निबाहा। इसी ब्रह्मचर्य व्रत पालने का यह फल था कि वे बल में, बुद्धि में, विचार में, साहस में, पराक्रम में और तेज में अनुपम थे।

हनुमानजी ने जो काम किये सभी अच्छे किये। उन्होंने कोई काम ऐसा नहीं किया जिसकी कोई निन्दा कर सके।



अंगद

अंगद वाली का पुत्र था। जब रामचन्द्रजी ने वाली को मार कर सुग्रीव को किष्किन्धा का राजा बनाया तब वह युवराज बनाया गया। अङ्गद बड़ा वीर और बुद्धिमान् था। लङ्का में पहुँच कर रामचन्द्रजी ने अङ्गद को अपना दूत बना कर रावण की सभा में भेजा। वहाँ अङ्गद ने नीति और धर्म की बहुत अच्छी

अच्छी बातें कहकर रावण को रामचन्द्रजी से संधि कर लेने के लिए समझाया। परन्तु रावण ने एक न सुनी। तब अंगद ने अपना पैर पृथ्वी पर जमा करके कहा कि यदि तुम लोगों में कोई वीर हो तो मेरा पैर हटा दे। रावण की सभा में से किसी वीर से भी जब पैर न उठा तब रावण स्वयं उठा। उस समय अङ्गद ने कहा—हे रावण, मेरा पैर पकड़ने से तुम्हारा कल्याण न होगा। जाकर श्रीराम का पैर पकड़ो। यह सुनकर रावण लज्जित होकर बैठ गया। इससे अंगद की सामयिक चतुरता का परिचय मिलता है।

राक्षसों के साथ युद्ध करने में अङ्गद हनुमानजी के जोड़ का था। जब कभी सुग्रीव के दल पर राक्षसों के द्वारा प्रबल संकट उपस्थित होता था तब सुग्रीव के सैनिक अङ्गद और हनुमानजी का नाम लेकर चिल्लाते थे। रामचन्द्रजी ने भी कई बार अंगद की वीरता की प्रशंसा की थी।

जाम्बवान

जाम्बवान सुग्रीव की सेना का सेनापति और बड़ा नीतिज्ञ था। जब सुग्रीव की आज्ञा से अनेक दूत सीताजी की खोज में निकले तब जाम्बवान, अङ्गद और हनुमानजी आदि वीरों की टोली दक्षिण-समुद्र के तट पर पहुँची। वहाँ से समुद्र पार करके लङ्का में जाने का विचार होने लगा। परन्तु उनमें हनुमानजी के सिवा और किसी में समुद्र पार जाने का सामर्थ्य न था।

उस समय अन्य सब अपने अपने बल के अनुसार समुद्र पार जाने में अपनी अपनी असमर्थता प्रकट कर रहे थे। परन्तु हनुमानजी चुप बैठे थे। यह देखकर नीतिकुशल जाम्बवान ने हनुमानजी की ऐसी समयोचित प्रशंसा की कि वे उत्साह से उत्तेजित हो उठे और बिना किसी के कहे ही स्वयं समुद्र पार जाने के लिए तयार हो गये।

जाम्बवान यद्यपि वृद्ध हो गया था, परन्तु वह राक्षसों के साथ युद्ध में बराबर लड़ता था। अपनी सेना को वह युद्ध-क्षेत्र में बहुत उत्साहित करता रहता था। उसने समय समय पर रामचन्द्रजी को बहुत उचित और काम की सम्मतियाँ भी दी थीं।

नल और नील

ये दो भाई थे। सुग्रीव की सेना के ये भी सेनापति थे। शिल्पकला में ये दोनों भाई बड़े निपुण थे। जब रामचन्द्रजी ने लङ्का पर चढ़ाई की तब सेना के पार उतरने के लिए इन्होंने ही समुद्र पर पुल बाँधा था। ये दोनों अपने काम में बड़े कुशल थे। इन्होंने बड़ा ही मज़बूत पुल थोड़े ही समय में बना कर तैयार कर दिया था। ये कोरे शिल्पी ही न थे, शत्रुओं से युद्ध भी करते थे। ये बड़े वीर थे। इन्होंने लङ्का में बहुत से राक्षसों को मारा था।

वशिष्ठजी

महर्षि वशिष्ठ राजा दशरथ के कुल-पुरोहित या गुरु थे। रामचन्द्रजी और उनके भाइयों को इन्होंने ही धार्मिक शिक्षा दी थी। ये बड़े ज्ञानी और धर्मशास्त्र के अच्छे ज्ञाता थे। ये बड़े तपस्वी और धनुर्वेदज्ञ थे। इनके समान गायत्री का जप करने वाला दूसरा नहीं था। इन्होंने अपने ब्रह्मतेज के प्रभाव से राजर्षि विश्वामित्र के क्षात्र तेज को पराजित किया था। अपने समय के ये सब से बड़े महर्षि थे। परन्तु इनमें एक दोष यह था कि ये मुँह देखी बहुत बतलाते थे। जो कुछ कोई कह देता था ये उसी की हाँ में हाँ मिला देते थे। महाराज दशरथ ने जब रामचन्द्रजी को युवराज बनाना चाहा तब उन्होंने एक बड़ी भूल यह की कि भरत और शत्रुघ्न को नाना के घर से बुलाने के लिए राजा को सम्मति नहीं दी। ऐसे महोत्सव के समय उनको घर बुला लेना बड़ा आवश्यक था। यदि भरत, शत्रुघ्न उस समय घर पर होते तो सम्भव था कि श्रीराम को वन जाने का कष्ट न उठाना पड़ता। और इसी भूल के कारण मन्थरा ने केकयी को यह कह कर बहकाया कि राजा ने जान बूझ कर भरत को बाहर भेज दिया है। इस भूल का दोष वशिष्ठजी पर इसलिए लगाया जाता है कि वे जब अन्य छोटी छोटी बातों में राजा को सम्मति दिया करते थे, तब इतने बड़े महत्त्व की बात उनके ध्यान में कैसे नहीं आई ?

रामचन्द्रजी के वन जाने और दशरथ के प्राण त्यागने के पश्चात् जब भरतजी अयोध्या में आये तब वशिष्ठ महाराज ने उनको सम्मति दी कि आप राजसिंहासन पर बैठिए। इस

स्थान पर तो हम भरतजी को वशिष्ठजी से बढ़कर बुद्धिमान् समझते हैं, क्योंकि उन्होंने सत्य का पक्ष लिया और बड़े भाई की सम्पत्ति पर अधिकार करना धर्म-विरुद्ध समझा। वास्तव में वशिष्ठजी को वैसी ही सम्मति देनी थी जिससे उनकी धर्मज्ञता और निर्भीकता प्रकट होती।

फिर जब भरतजी रामचन्द्रजी को लौटा लाने के लिए चित्रकूट गये उस समय वशिष्ठजी भी साथ गये थे। वहाँ उन्होंने रामचन्द्रजी को अयोध्या लौट चलने की सम्मति दी थी। वशिष्ठजी जैसे ज्ञानी पुरुषों के मुँह से ऐसी बातों का निकलना हम अनुचित समझते हैं। क्योंकि रामचन्द्रजी घरवालों से रूठकर तो वन में जाते ही न थे, वे तो केवल पिता की बात रखने के लिए बन में जा रहे थे। ऐसी दशा में वशिष्ठजी को उचित था कि यदि रामचन्द्रजी घर को लौटना भी चाहते तो भी वे उन्हें धर्म का उपदेश देकर लौटने न देते।

चौदह वर्ष बाद जब रामचन्द्रजी वन से लौट आये और अयोध्या में राज्य करने लगे उस समय वशिष्ठजी ने उन्हें बहुत अच्छे अच्छे उपदेश दिये। योग-वशिष्ठ नामक पुस्तक में उन्हीं उपदेशों का संग्रह है। वे उपदेश मनुष्य के लिए बहुत ही कल्याणकारी हैं।

अनसूया

अनसूया अत्रि ऋषि की पत्नी थीं। ये बड़ी पतिव्रता और बुद्धिमती थीं। ये रात दिन अपने पति की सेवा में लगी रहती थीं। जब रामचन्द्रजी लक्ष्मणजी और सीताजी के साथ चित्रकूट में

अत्रि ऋषि का दर्शन करने के लिए गये थे तब अनसूया ने सीताजी को पातिव्रत धर्म का जो उपदेश दिया था वह बहुत ही उत्तम और स्त्रियों के लिए बड़ा ही कल्याणकारी है। इस उपदेश से ही अनसूयाजी की विद्वत्ता और ज्ञान का पता चलता है।

अनसूया ने सीताजी को जो उपदेश दिया था, महात्मा तुलसीदास ने अपने रामायण में उसे इस प्रकार वर्णन किया है—

अनसूया के पद गहि सीता, मिली बहोरि सुशील विनीता।
ऋषि-पत्नी मन सुख अधिकाई, आशिष देइ निकट बैठाई।
कह ऋषिवधू सरल मृदुबानी, नारिधर्म कछु व्याज बखानी।
मातु पिता भ्राता हितकारी, मितसुखप्रद सुन राजकुमारी।
अमितदानि भर्त्ता वैदेही, अधम सो नारि जो सेव न तेही।
धीरज धर्म मित्र अरु नारी, आपत काल परखिये चारी।
वृद्ध रोगवश जड़ धनहीना, अन्ध वधिर क्रोधी अतिदीना।
ऐसेहु पति कर किय अपमाना, नारि पाव यमपुर दुख नाना।
एकै धर्म एक व्रत नेमा, काय वचन मन पति पदप्रेमा।
जगपतिव्रता चारिविधि अहहीं, वेद पुराण सन्त अस कहहीं।
उत्तम के अस बस मन माहीं, सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं।
मध्यम परपति देखहिं कैसे, भ्राता पिता पुत्र निज जैसे।
धर्मविचारि समुझि कुलरहहीं, सो निकृष्ट तियश्रुति अस कहहीं
बिन अवसर भय ते रह जोई, जानेहु अधम नारि जग सोई।
बिनुश्रम नारि परमगति लहई, पतिव्रत धर्म छाँड़ि छल गहई।

—

शूर्पणखा

यह रावण की विधवा बहन थी । इसके पति को रावण ने लड़ाई में मार डाला था। पति के वियोग में जब यह बहुत दुखी हुई तब रावण ने इसको दंडक वन का राज्य देकर चौदह हज़ार राक्षसों को इसकी सेवा के लिए नियत कर दिया। जब रामचन्द्रजी लक्ष्मण और सीताजी के साथ दंडक वन में जाकर पंचवटी में कुटी बनाकर रहने लगे तब एक दिन यह वहाँ इधर उधर घूमती फिरती उस कुटी के सामने जा निकली। रामचन्द्रजी की सुन्दरता को देखकर यह उनपर मोहित हो गई। इसने रामचन्द्रजी से प्रार्थना की कि मुझे अपनी स्त्री बना लो। परन्तु रामचन्द्रजी बड़े सदाचारी थे। उन्होंने इसके प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। तब यह वहाँ उत्पात मचाने लगी। इससे रामचन्द्रजी को बड़ा क्रोध आया। उनका संकेत पाकर लक्ष्मणजी ने उठकर शूर्पणखा के नाक-कान काट लिये। नाक-कान कट जाने पर शूर्पणखा रोती चिल्लाती अपने राक्षसों के पास गई। राक्षसों के सरदार थे खर और दूषण। उन्होंने चौदह हज़ार राक्षसों को लेकर पंचवटी को घेर लिया। रामचन्द्रजी ने अकेले उन सबको मार डाला। तब शूर्पणखा रावण के पास लङ्का में गई और उसे सीताहरण के लिए समझा बुझा कर तयार किया। शूर्पणखा ही श्रीराम और रावण के बीच में वैर का कारण हुई।

यहाँ एक बात यह भी विचारणीय है कि रामचन्द्रजी ने शूर्पणखा के साथ जो बर्ताव किया वह उचित था या अनु-

चित ? लक्ष्मण बेचारे तो निर्दोष थे, क्योंकि उन्होंने तो अपने भाई की आज्ञा का पालन किया। न करते तो वे अपने बड़ों की आज्ञा न मानने के दोषी समझे जाते। परन्तु राम ने स्त्री जाति के साथ ऐसा कुव्यवहार करने की आज्ञा क्यों दी ? यथार्थ में इसका कारण यह जान पड़ता है कि रामचन्द्रजी दुष्टों को, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, दंड देना बुरा न समझते थे। इसके पहले उन्होंने बालकपन में ताड़का नाम की राक्षसी स्त्री का भी वध किया था। उस समय विश्वामित्र ने उनको ताड़का के वध करने की आज्ञा दी थी। इससे ज्ञात होता है कि दुष्ट को, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष दंड देना अनुचित नहीं है।

रावण

रामायण के पात्रों में दो ही पात्र बड़े प्रसिद्ध हैं। रामचन्द्रजी और रावण। रामचन्द्रजी की कथा हम पहले लिख चुके। अब रावण का हाल सुनिए।

रावण पुलस्त्य ऋषि के कुल में पैदा हुआ था। पुलस्त्य का एक पुत्र था। उसका नाम था विश्रवा। रावण विश्रवा का ही पुत्र था। रावण के बड़े भाई का नाम कुबेर था। उत्तर दिशा की प्रसिद्ध अलकापुरी का स्वामी जो कुबेर— महाधनी—यक्षराज प्रसिद्ध है वही रावण का भाई था।

लङ्कापुरी पहले दैत्यों की राजधानी थी। जब देवों और दैत्यों का युद्ध हुआ तब लङ्का से देवों ने दैत्यों को निकाल दिया। कुछ दिन तक लंका ख़ाली रही जब कुबेर बड़ा हुआ तब विश्रवा ने उसको लङ्का में रहने की आज्ञा दे दी। कुबेर लङ्का में रहने लगा। कुबेर के पिता ने विश्वकर्मा आदि चतुर शिल्पियों से बनवा कर एक विमान भी कुबेर को दे दिया। विमान का नाम पुष्पक था।

वाल्मीकि रामायण में लिखा है कि पुष्पक विमान बहुत ही सुन्दर था। वह बहुत बड़ा था। उस विमान में स्नान-शाला, पाकशाला, पुस्तकालय आदि सभी उपयोगी स्थान विद्यमान थे। उसमें बढ़िया चित्रकारी का काम हो रहा था। खान-पान की सामग्रियों की उसमें कमी न थी। और ते। और उसमें एक छोटी सी पुष्पवाटिका भी थी। उसके सुन्दर पुष्पों की मँहक से उसपर बैठने वालों का चित्त प्रसन्न हो जाता था। उसमें वायु और प्रकाश के आने का भी पूरा प्रबन्ध था। सारांश यह कि विमान सब प्रकार से सुन्दर और सुखदायक था। विमान श्वेत रंग का था। जब वह चलता था तब दूर से ऐसा मालूम होता था मानों कोई चाँदी का पहाड़ हो। धूप में उसकी ओर आँख उठाकर देखना बड़ा कठिन काम था।

रामायण में विमान की प्रशंसा करते हुए आदिकवि वाल्मीकि लिखते हैं—

महीकृताः पर्वतराजिपूर्णाः
शैलाः कृताः वृक्षवितानपूर्णाः

वृक्षाः कृताः पुष्पवितानपूर्णाः
पुष्पं कृतं केसरपत्रपूर्णम् ॥

अर्थात् उस पुष्पक विमान में फ़र्श ऐसा विचित्र बना था कि जहाँ तहाँ पर्वतमालायें भी दिखाई गई थीं। पर्वत-मालाओं पर वृक्ष भी उगे थे। वृक्ष भी कोरे नहीं, उनमें फूल भी खिले हुए थे। उन फूलों में भी केसर की शोभा बड़ी मनोहर दिखाई देती थी। यह सब सामान चित्रकारी की कुशलता का प्रत्यक्ष प्रमाण दे रहा था।

हाँ तो, ऐसे सुन्दर विमान को लेकर कुबेर लङ्का में रहने लगा। कुबेर का छोटा भाई रावण जब बड़ा हुआ तब उसने बड़ा तप किया। तप के प्रताप से उसने वेदादि शास्त्रों का मर्म अच्छी तरह समझ लिया। शस्त्रास्त्र-विद्या में भी वह निपुण हो गया। तपश्चर्या के प्रभाव से और कठिन अभ्यास से रावण बल में, विद्या में, पराक्रम में और प्रताप में अपने सामने किसी को नहीं गिनता था। वह अपने पिता के आश्रम में, वन में, ही रहता था।

कुछ दिन बाद रावण ने दिग्विजय करने की ठानी। जिस दिशा में वह निकल जाता उधर ही हाहाकार मच जाता। उसके बल के सामने सभी ने हार मानी। दिग्विजय करता हुआ वह दक्षिण दिशा में लङ्का में भी पहुँचा। यद्यपि लङ्कापति कुबेर रावण का बड़ा भाई था, पर तो भी वह अपने बड़े भाई के ऐश्वर्य को देख न सका। बात यह कि वह अपना ऐश्वर्य सब से बढ़ा चढ़ा रखना चाहता था।

रावण ने युद्ध करके कुबेर को जीत लिया। हारकर कुबेर ने लङ्का को छोड़ कर भाग जाना ही अच्छा समझा।

कुवेर के चले जाने पर रावण ने लङ्का पर अपना प्रभुत्व जमा लिया। पुष्पक विमान को पाकर रावण बड़ा प्रसन्न हुआ।

लङ्का से भाग आने पर कुबेर के लिए उत्तर दिशा में 'अलका' नामकी एक बड़ी सुन्दर नगरी बसाई गई। वह उसी 'अलका' में यक्षों का राजा बन कर फिर बड़े ठाट बाट से रहने लगा।

यों तो रावण ऋषिकुल में उत्पन्न हुआ था और बचपन में ब्राह्मण-वृत्ति से ही आश्रम में पालित, पोषित और शिक्षित हुआ था, पर पूर्वजन्म के कर्मानुसार उसके स्वभाव में कई प्रकार के नीच भाव पैदा हो गये थे।

रावण बड़ा शूरवीर, बली, पराक्रमी, साहसी, निर्भय और तेजस्वी था। पर साथ ही कामी, ईर्ष्यी, अधर्मी और अत्याचारी भी पूरा था। राज्य का मद उसमें कम न था। दिग्विजय में विजय पाकर उसके घमण्ड का पारा और भी ऊँचा चढ़ गया था।

रावण के दुराचारों और अत्याचारों का प्रभाव उसकी प्रजा पर भी ख़ूब पड़ा। प्रजा भी राजा की तरह अन्याय और अत्याचारों के करने में प्रवृत्त हो गई। रावण और उसकी प्रजा से धर्मात्मा सताये जाने लगे। यज्ञ आदि वैदिक धर्म-कर्मों में राक्षसों के द्वारा तरह तरह के विघ्न होने लगे।

रावण ने सीताजी को चुरा कर अच्छा काम नहीं किया। यही काम उसके काल का कारण हुआ। एक पतिव्रता सती को सताना और उसके सतीत्व भङ्ग करने की कुवासना पैदा करना क्या कुछ कम पाप है?

यद्यपि रावण ने इसी प्रकार अनेक स्त्रियों को बलात् अपने घर में रख छोड़ा था। पर अब की बार, अन्त में,

उसने जिस सती को वश में करना चाहा था वह मामूली स्त्री नहीं थी। वह महाबली रामचन्द्रजी की पत्नी थी। रामचन्द्र-जी ने पता लगा कर अपने भाई और मित्रों की सहायता से रावण को मार कर सीताजी को प्राप्त कर लिया। उस युद्ध में रावण अकेला ही नहीं मारा गया, उसके भाई, पुत्र, मन्त्री, साथी, सभी का संहार हो गया। दुष्टों का साथ दुष्ट ही देते हैं। भले आदमी दुष्टों के साथी नहीं होते। रावण का भाई विभीषण धर्मात्मा था। वह रावण की तरह दुष्ट न था। उस युद्ध में विभीषण ने रावण का साथ छोड़ दिया। वह रावण को छोड़कर धर्मात्मा श्रीराम से जा मिला। रावण के गर्व को चूर्ण करके रामचन्द्रजी ने लङ्का का राज्य विभीषण को दे दिया।

यहाँ पर कोई यह कह सकता है कि रावण ने सीताजी के साथ बल का प्रयोग नहीं किया। वह उनको मीठी मीठी बातों से प्रसन्न करना चाहता था। सीताजी के साथ उसने बड़ी दया का बर्ताव किया इत्यादि। इस पर हमारा निवेदन यह है कि रावण ने सीताजी के साथ कुछ दया नहीं की। वह ज़बर्दस्ती करना चाहता था और ज़बर्दस्ती कर भी डालता, पर उसको यह निश्चय था कि यदि सीताजी के साथ बल का प्रयोग किया जायगा तो वश में होने से पहले ही वे मर जायँगी। सीताजीकी दृढ़ता देख कर ही उसको बलपूर्वक वश में करने का साहस न होता था। इसमें दया की कोई बात न थी।

सुनते हैं, रावण ने वेदों का भाष्य किया था। रावण के नाम से और भी कुछ ग्रन्थ इस समय मिलते हैं। जो हो, यदि रावण ने वेदों का भाष्य भी बनाया हो तो इससे क्या। उसको

कर्म अधम थे। उसके विचार नीच थे। इसलिए वह राक्षस कहलाता था।

रावण विद्या में, धन में, बल में सभी में भरपूर था। पर उसकी बुद्धि ऐसी भ्रष्ट थी कि इन गुणों से भी उसने अपनी दुर्वासनाओं की ही पूर्ति की। किसी नीतिकार ने क्या ही अच्छा कहा है कि—

"विद्या विवादाय, धनं मदाय,
शक्तिः परेषां परिपीडनाय।
खलस्य, साधोर्विपरीतमेतद्
ज्ञानाय, दानाय च रक्षणाय।

अर्थात् दुष्ट पुरुषों की विद्या विवाद के लिए, धन प्रमाद के लिए और बल दूसरों को सताने के लिए होता है। परन्तु सज्जनों की विद्या ज्ञान के लिए, धन दान के लिए और बल दीनों की रक्षा के लिए होता है। ठीक यही बात रावण में घटती है। रावण का स्वभाव दुष्ट था। इसलिए उसको विद्या, धन और बल भी दुष्कर्मों में ही लगा।

जो मनुष्य रावण की तरह अपनी शक्ति को दुष्कर्मों में लगाते हैं वे समूल नष्ट हो जाते हैं। इसलिए किसी समझदार को भी अपनी शक्ति किसी बुरे काम की ओर न लगानी चाहिए। शक्तियों का सदा सदुपयोग करना चाहिए, दुरुपयोग नहीं।

—

विभीषण

विभीषण रावण का भाई था। रावण का भाई होकर भी विभीषण का स्वभाव अच्छा था। वह ईश्वर का भक्त था। उसके मन में पाप-कर्म से घृणा थी। पर वह लङ्का में ऐसा था जैसे दाँतों के बीच में जीभ। सारी लंका में जो एक आध आदमी भला था तो उन में एक विभीषण था। सीताजी के चुरा लाने पर विभीषण ने रावण को बहुत समझाया। अनेक प्रकार से समझाने पर भी जब रावण नहीं माना तब विभीषण को दुःख हुआ। जब उसने सुना कि रामदल चढ़कर लंका को घेरनाही चाहता है तब उसने रावण को अंत में, एक बार, फिर समझाया। उसने सीताजी वापस देने और रामचन्द्रजी से मेल करने के लिये रावण,को अनेक नीति की बातें बताईं, पर दुष्ट रावण ने उसकी एक न सुनी। तब लाचार निराश होकर और भाई से फटकारा जाकर, वह रामचन्द्रजी के शरण में आ गया। उस समय उसने अधर्मी भाई का साथ देना उचित न समझा। विभीषण को रामचन्द्रजीके बल का पता था। वह उनकी वीरता की बात पहले ही सुन चुका था। इसीलिये तो उसने अपने भाई को समझाना चाहा था।

राम के दलमें मिलकर विभीषण ने उनको बड़ी सहायता दी। उस सहायता का फल भी उसे उसी समय मिल गया। लंका विजय करने और रावण के मारे जाने पर रामचन्द्रजी ने विभीषण ही को लंका का राज्य दे दिया।

यहाँ पर कोई यह कह सकता है कि विभीषण ने बड़ा बुरा काम किया जो ऐसे समय में भाई को छोड़कर उसके विरुद्ध शत्रु से जा मिला। आख़िर भाई भाई ही था। शत्रु से तो वह सब तरह अच्छा ही था। अपने भाई को छोड़कर शत्रु से जा मिलना बड़ी नीचता का काम था। इसमें सन्देह नहीं कि यह काम राजनैतिक दृष्टि से अच्छा न था। हज़ार बुरा होने पर भी उसे भाई को कभी न छोड़ना चाहिए था। पर धर्म की नीति से दुष्ट का साथ देना सर्वथा अनुचित समझा जाता है, फिर चाहे वह भाई हो या और कोई। पर ऐसा कर के विभीषण ने एक बात राजनीति की बड़ी बारीक सोची होगी। वह यह कि यदि वह लंका में रह जाता और रावण का साथ न देता तो वह उसके हाथ से मारा जाता और जो युद्ध में रावण का साथ देता तो उसके साथ वह भी मारा जाता। फिर लंका का राज्य किसी दूसरे को मिलता। उनके कुल से वह राज्य सदा के लिए चला जाता। सम्भव है राज्य के लोभ से ही उसने ऐसा किया हो। जो हो, विभीषण की नीति की हम निन्दा नहीं कर सकते।

आदिकवि वाल्मीकि और कुश-लव

रामायण की प्रशंसा करने का यह समय नहीं! यहाँ हम उसके बनानेवाले की कुछ बात बताना चाहते हैं। जिस वाल्मीकि ने रामायण काव्य की रचना की है उसकी जीवनी भी कम विचित्र नहीं है।

वाल्मीकि का पहला नाम कुछ और ही था। ब्राह्मण के कुल में पैदा होकर भी वाल्मीकि व्याधों की सङ्गति में पड़ गये। वह भी देखा देखी लूटमार करके अपने कुटुम्ब का पालन पोषण करने लगे। एक बार कुछ ऋषि-मुनियों के उपदेश से वाल्मीकि की आँखें खुल गईं। तबसे उन्होंने लूट-मार का काम छोड़ कर तपस्या करनी शुरू करदी। थोड़े ही दिनों में विद्या पढ़कर वाल्मीकि विद्वान् हो गये।

एक बार महामुनि वाल्मीकि अपने भरद्वाज आदि शिष्यों के साथ तमसा नदी में स्नान करने जा रहे थे। रास्ते में उन्होंने देखा कि एक व्याध ने क्रौंच-पक्षी के जोड़े में से काम-पीडित नर क्रौंच को मार डाला। उस घटना को देखकर वाल्मीकि मुनि को बड़ी दया आई। उनके मुँह से झट यह निकल पड़ा—

"मा निषाद, प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥"

अर्थात् हे निषाद, रे व्याध, तू बहुत दिन तक प्रतिष्ठा को मत प्राप्त हो, तू बहुत दिन तक मत जी, क्योंकि तू ने क्रौंचके जोड़े में से काममोहित एक क्रौंच को मार डाला।

इस श्लोक से एक ऐसी घटना हुई कि जो बहुत बड़े कार्य का कारण हुई। वाल्मीकि मुनि ने साधारण रीति से संस्कृत में यह बात कही थी। क्योंकि उस समय तक लोग गद्य ही बोलते और गद्य ही लिखते थे। पद्यरचना का आरम्भ उससमय तक नहीं हुआ था। परन्तु दैवयोग से उससमय उनके मुँह से जो ऊपर लिखे वाक्य निकले उसे सुन कर वाल्मीकि के शिष्य भरद्वाज ने उसे याद कर लिया। वह ३२

अक्षरों का एक समुदाय, आठ आठ अक्षरों के चार भागों में, ठीक ठीक बँट गया था। उस श्लोक को फिर कहा तो स्वयं वाल्मीकि को भी बड़ा आश्चर्य हुआ। तभी से उनको श्लोक-रचना का ज्ञान हुआ।

नारद मुनि के कहने से वाल्मीकि ने रामायण बनाने का आरम्भ कर दिया। रामचरित की मुख्य मुख्य बातें नारदजी ने उन्हें पहले ही सूचित करदी थीं। प्रतिभा शक्ति तो उनमें स्वाभाविक थी ही। रामचरित के वर्णन करने के लिए मानो सरस्वती उनकी जिह्वा पर नाचने लगी। उनकी लेखनी से अथवा उनके मुँह से जो शब्द निकले वे बहुत उपयुक्त, सरस, मधुर और प्रभावशाली थे।

रामायण के देखने से ज्ञात होता है कि लङ्काकाण्ड तक ही उनकी रचना है। लङ्काकाण्ड के अन्त में उन्होंने रामायण की समाप्ति की सूचना दे दी है और रामायण के पढ़ने का फल भी लिख दिया है। उत्तरकाण्ड की रचना-शैली भी पहले काण्डों की शैली से नहीं मिलती। इससे भी सिद्ध है कि आदि कवि के काव्य की रचना लङ्काकाण्ड तक ही है। अस्तु।

महाकवि वाल्मीकि की रुचि बड़ी पवित्र और परोपकारिणी थी। उन्होंने अपनी कवित्वशक्ति अच्छे काव्य के बनाने में ख़र्च की। संस्कृत-साहित्य में रामायण से बढ़ कर उपदेश-प्रद कोई ग्रन्थ नहीं बना। रामचरित का जितना प्रचार हुआ है उतना और किसी का नहीं। इसके दो कारण हैं। एक तो रामचरित ही ऐसा उत्तम है कि उसके पढ़ने सुनने की सभी को हार्दिक इच्छा होती है। दूसरे, वाल्मीकि की रचना भी बड़ी सरस और प्यारी है। किसी ने क्या ही अच्छा कहा है—

"कूजन्तं रामरामेति मधुरं मधुराक्षरम् ।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम्"

इसका तात्पर्य यह है कि "मैं उन वाल्मीकि रूपी कोयल की वन्दना करता हूँ जो कविता की शाखा पर बैठी हुई बड़ी सुरीली आवाज़ में 'राम राम' की मीठी बोली बोल रही है।" निःसन्देह वाल्मीकि-कोकिल की मीठी बोली ऐसी ही है।

वाल्मीकि बड़े दयालु थे । जिस समय रामचन्द्रजी ने लोकनिन्दा के डर से गर्भवती सीता का परित्याग कर दिया था उस समय उन्हें लक्ष्मणजी वाल्मीकि मुनि के आश्रम में छोड़ गये थे। शिष्यों के द्वारा समाचार पाकर रोती बिलपती सीताजी को वाल्मीकि ने अपनी कुटी के पास दूसरी कुटी में ठहरा दिया। उन्होंने सीताजी को बहुत समझाया और उनके खान-पान और रक्षण का पूरा प्रबन्ध कर दिया। सीताजी वाल्मीकि को पिता के समान समझती और मुनि भी उनको पुत्री के समान समझ कर उनकी रक्षा किया करते थे।

कुछ दिन बाद सीताजी के दो पुत्र हुए। कुश और लव। ये दोनों जोड़िया थे । वाल्मीकि मुनि ने दोनों कुमारों की रक्षा-शिक्षा का सारा भार अपने ऊपर लिया । बड़े होने पर दोनों कुमारों को सब विद्यायें पढ़ा दीं । क्षत्रियोचित वीर-विद्याओं में भी दोनों भाई निपुण हो गये।

उन्हीं दिनों आदिकवि वाल्मीकि ने रामायण नामक काव्य बना कर तैयार किया था । उसे उन्होंने सबसे पहले अपने प्रधान शिष्य कुश-लव को पढ़ाया। दोनों ने उस काव्य को पढ़ कर याद कर लिया। वे उस काव्य को बड़े मधुर स्वर से गाया करते थे। उनके गाने की प्रशंसा चारों ओर फैल गई। सब लोग

अपने अपने स्थान पर बुला बुला कर उनसे रामायण का गान सुनने लगे। एक तो महाकवि की उत्तम ललित कविता, दूसरे कुश-लव की सुरीली बोली, दोनों बातें मिल कर ऐसी अच्छी लगती थीं कि सुननेवाले आनन्द में मग्न हो जाते थे।

एक बार जब रामचन्द्रजी ने अश्वमेध यज्ञ किया था तब निमन्त्रण आने पर वाल्मीकि मुनि अपने शिष्यों सहित अयोध्या आये थे। कुश और लव भी उनके साथ थे। कुश-लव को यह ज्ञात न था कि वे रामचन्द्रजी के पुत्र हैं। दोनों भाई अपरिचित की तरह यज्ञ-भूमि में विचरने लगे। रामायण के गाने में उनकी प्रसिद्धि थी ही। वहाँ भी वे जहाँ तहाँ रामायण गा गा कर सुनाते फिरते थे। जिसने उनका गाना सुना वही मोहित हो गया।

यज्ञ समाप्त होने पर वाल्मीकि मुनि ने सारा भेद खोल कर रामचन्द्रजी को, भरी सभा में, समझाया। सीताजी को ग्रहण करने की उन्होंने सम्मति दी और सीताजी को निर्दोष सिद्ध किया। पर खेद है कि वाल्मीकि मुनि की सम्मति उन्होंने स्वीकृत नहीं की। लोकनिन्दा के डर से उन्होंने मुनि के कहने की भी कुछ पर्वा न की।

महर्षि वाल्मीकि की प्रतिभा कितनी बढ़ी चढ़ी थी, इस को वही अच्छी तरह जान सकते हैं जिन्होंने रामायण-काव्य-सुधा-सागर में गहरा गोता लगाया है। रामायण की रचना ऐसी ललित, ऐसी भावपूर्ण है कि देखते ही बनती है। उन्होंने जिस पात्र का वर्णन किया है उसके वर्णन में किसी बात की कमी नहीं रहने दी। उनकी रचना सभी रसों और आनन्दवर्धक भावों से परिपूर्ण है।

रामायण रहस्य

इसमें रामायण के मुख्य मुख्य २५ पात्रों की जीवनी का आलोचनात्मक वर्णन है।

यह पुस्तक निम्नलिखित शिक्षाविभागों द्वारा स्वीकृत है।

१—काशी के हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा प्रवेशिका परीक्षा के लिए पाठ्यपुस्तक।

२—बिहार व उड़ीसा के शिक्षाविभाग द्वारा सातवीं, आठवीं, नवीं, दसवीं कक्षा की लाइब्रेरी के लिए स्वीकृत।

३—मध्यप्रदेश व बरार के शिक्षा विभाग द्वारा ऐंग्लोवर्नाक्युलर, मिडिल, नार्मल और हाई स्कूलों की लाइब्रेरी के लिए स्वीकृत।

मिलने का पता :—

प्रबन्धक, हिन्दी प्रेस, प्रयाग

